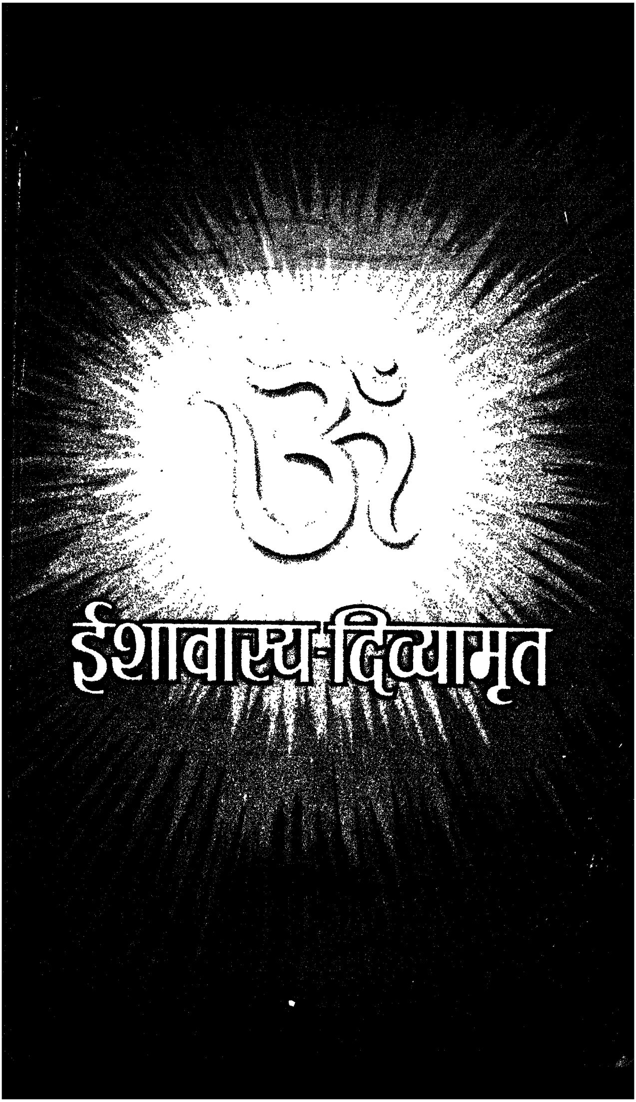
ॐ
ईशावास्य-दिव्यामृत

ईशावास्य-दिव्यामृत

•

शिवानन्द

•

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

Ishavasya-Divyamrit

•

Shivanand

•

Price : Rs. 21/-

ईशावास्य-दिव्यामृत

लेखक

शिवानन्द

•

संस्करण : पहला

प्रतियाँ : २,०००

जुलाई, १९९६

•

प्रकाशक :

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,

राजघाट,

वाराणसी-२२१००१

•

अक्षर-संयोजन :

ए पी एन कम्प्यूटर्स,

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-२२१०१०

•

मुद्रक :

सुरभि प्रिंटर्स,

इण्डियन प्रेस कालोनी,

मलदहिया, वाराणसी

•

मूल्य : इक्कीस रुपये

प्रकाशकीय

आचार्य शिवानन्दजी भारत के प्रख्यात चिन्तक और मनीषी हैं, जिनकी धर्म, दर्शन और संस्कृति में गहरी पैठ सुविदित है। उनकी रचनाओं का विद्वज्जन और सामान्यजन द्वारा देश-विदेश में असाधारण स्वागत और सम्मान प्राप्त हुआ है। उनकी रचनाओं के अनेक संस्करणों का प्रकाशन होना उनकी ग्राह्यता एवं लोकप्रियता को प्रमाणित करता है। जिन लोगों को श्री शिवानन्दजी को समीप से देखने का सुअवसर मिला है, वे उनके तपोनिष्ठ, त्यागपूर्ण और सरल जीवनशैली से प्रभावित हुए हैं। वास्तव में श्री शिवानन्दजी सत्य के अनुसन्धाता एवं उपासक एक ऋषि ही हैं।

यद्यपि श्री शिवानन्दजी की सभी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं, उनका गीता-भाष्य (गीता-रसामृत) सर्वप्रकारेण एक अनुपम अमरग्रन्थ है। अब उन्होंने सुपरिचित सरल, सरस एवं सुबोध शैली में प्रमुख उपनिषदों की व्याख्या 'उपनिषद् दिव्यामृत' के प्रणयन का प्रकल्प प्रारंभ किया है। 'उपनिषद् दिव्यामृत' -शृंखला में सर्वप्रथम 'ईशावास्य-दिव्यामृत' सुधी पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि ज्ञानपिपासुजन इसका हार्दिक स्वागत करेंगे।

इससे पूर्व हम पू0 विनोबाजी की ईशावास्य-वृत्ति पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं, जिसे पाठकों का असाधारण स्वागत एवं सम्मान प्राप्त हुआ है। लोकहितकारी उत्तम रचनाओं को सस्ते मूल्य पर सामान्यजन को सुलभ कराना सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन का मूल उद्देश्य है। इस उत्तम उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनसहयोग सदैव अपेक्षित है।

लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तकें है - गीता रसामृत, तनाव से मुक्ति और ध्यानदीप, जीवन और सुख, जीवन और अभय, उमंगभरा जीवन, आनन्द की ओर, प्रेरणात्मक विचार, ईंस्पाइरेशनल थॉट्स।

मकर संक्रान्ति —हेमदेव शर्मा

१४ जनवरी, १९९६ संयोजक

निवेदन

संसार के समग्र चिन्तनप्रधान-साहित्य में उपनिषदों का स्थान सर्वोपरि है। भारतीय मनीषा का जैसा उत्कर्ष एवं वैभव उपनिषदों में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। यह एक विडम्बना ही है कि अपने ही देश में उपनिषद् प्रच्छन्न रत्नों की भाँति अन्धकार में प्रलुप्त हो रहे हैं। भारत के शिखर-ग्रन्थों की यह अवज्ञा शोचनीय है। इस अवज्ञा के अनेक कारण हैं।

यद्यपि उपनिषद् दुरूह एवं दुर्गम्य नहीं हैं तथा उनमें प्रचुर प्रखरता एवं सहज स्पष्टता है, अनेक आचार्यों के जटिल भाष्यों ने उन्हें सरल और सरस करने के स्थान पर क्लिष्ट एवं कठिन बनाकर लोक में उनके प्रबल प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त यह भ्रान्त धारणा भी प्रचलित रही कि उपनिषद् तथा भगवद्गीता वैराग्यपरक हैं तथा उनका क्षेत्र संन्यासियों तक ही सीमित है। उपनिषद् तो अमृत के सरोवर हैं तथा उनका अवगाहन एवं आस्वादन सभी के लिए समान रूप से उपादेय एवं कल्याणकारी है। ईश्वरीय ज्ञान किसीके लिए निषिद्ध नहीं हो सकता।

निश्चय ही उपनिषदों के ज्ञान में गूढता है तथा उसकी प्राप्ति के लिए एक अनुशासन एवं साधना की आवश्यकता होती है, किन्तु विद्वानों का कर्तव्य एवं दायित्व है कि वे उनका ऐसा प्रस्तुतीकरण करें कि उनके आकर्षक एवं आह्लादकारी स्वरूप का विशद परिचय अधिकाधिक मनुष्यों को हो सके। महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के स्तर पर शिक्षा में उनका समावेश होना चाहिए। उपनिषदों में कहीं संकीर्ण साम्प्रदायिकता, जातीयता, क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता आदि की दुर्गन्ध नहीं है तथा उनमें मनुष्य के मूल दिव्य स्वरूप की प्रस्थापना की गयी है। उनमें सार्वभौमिकता है।

राजनेता प्राय: सत्तालोलुपता के दुर्भेद्य व्यूह में फँसे रहते हैं और मिथ्या दम्भ से ग्रसित रहते हैं तथा उनकी कथनी और करनी का अन्तराल उनकी

क्षुद्रता, सिद्धान्तहीनता, स्वार्थपरता एवं अवसरवादिता को उजागर कर देता है। धनिकजन प्राय: विलासिता में निमग्न रहते हैं। रचनाधर्म के निर्वाह के प्रति समर्पित सात्त्विक एवं तपस्वी विद्वानों को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय देनेवाले उदारचेता महापुरुषों के सहयोग का प्राय: अभाव ही रहता है। इसके विपरीत विद्वेष एवं घृणा तथा विघटन में प्रयासरत संकीर्णवादी साहित्य के सर्जक आगे बढ़ते हुए समाज का अहित करते रहते हैं, यद्यपि उनका प्रभाव अस्थायी ही रहता है।

भौतिक-युग के अनेक साधु-संन्यासियों ने साधना-पथ को छोड़कर भोगैश्वर्यपूर्ण आश्रम बना लिये जहाँ उनकी पदपूजा होती रहे तथा उनकी रुचि आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार में नहीं रहती। भौतिक चकाचौंध से चुँधियाए हुए अधिकांश विद्वान् भी सुख-सुविधाभोगी हो गये। प्राय: प्रकाशकों के लिए सद्ग्रन्थों का प्रकाशन व्यवसाय से बढ़कर अन्य कुछ नहीं होता। युग के प्रभाव के कारण सुधी पाठकों की संख्या सीमित रह गयी है। किन्तु उत्कृष्ट ज्ञान का महत्त्व एवं वर्चस्व कभी न्यून नहीं हो सकता। धन्य हैं वे थोड़े से सात्त्विक जन, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में रहकर भी व्याप्त अन्धकार को विदीर्ण करने के लिए प्रकाश-दीप प्रज्वलित करते रहते हैं। ऐसे महापुरुषों की शृंखला अटूट एवं अक्षुण्ण है। वे प्रशस्ति एवं प्रलोभन से परे रहकर स्वान्त:सुखाय सृजन करके कृतकृत्य हो जाते हैं।

यह एक सुविदित तथ्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों की मुहर लगने पर ही भारतीयों का ध्यान उपनिषदों के दिव्य प्रकाश तथा संस्कृत-वाङ्मय की भव्यता की ओर आकृष्ट हुआ। विवेकानन्द को पाश्चात्य जगत् से सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर ही भारत में भी पहचाना गया। अधिकांश विदेशी विद्वान् वेद और उपनिषदों के प्रशंसक होकर भी उनकी गूढता से परिचित न हो सके तथा उनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ स्तुत्य होकर भी सत्यान्वेषी का पूर्ण मार्गदर्शन नहीं कर सकते तथापि उनके प्रयास

शोधपरक होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

उपनिषदों के अध्येताओं के लिए यह भी एक समस्या है कि विभिन्न मतों के रूढ हो जाने के कारण उपनिषदों और भगवद्गीता के भाष्यों में इतनी अधिक दूरी है कि साधारण पाठक भ्रमित हो जाता है। रूढिवादिता धर्म के व्यापक एवं विकासशील चरित्र को कुण्ठित करके कर्म को कर्मकाण्डों तथा ज्ञान को दुराग्रहों तक सीमित कर देती है। अतएव विभिन्न मतों का विवेकपूर्ण समन्वय करना अत्यधिक आवश्यक होता है। परस्पर टकराना विध्वंसक होता है।

वास्तव में जीवन के सभी क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित करना प्रगति का प्रमुख आधार होता है। पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह को छोड़कर संवाद करना आगे बढ़ने के लिए आवश्यक होता है। समन्वय का उद्देश्य गहरी खाइयों को पाटकर सेतु निर्माण करना तथा सामंजस्य को स्थापित करना होता है।

परमात्मा एक है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग होना नितान्त संभव एवं स्वाभाविक है। आचार्यों ने अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, चिन्त्याचिन्त्य इत्यादि तथा त्रैत के आधार पर ईश्वर, जीव और प्रकृति के संबंध में विभिन्न मतों की स्थापना की। यह आचार्यों की बौद्धिक विलक्षणता ही है। किन्तु प्रबुद्ध अध्येताओं को संकीर्णता और पूर्वाग्रह छोड़कर उपनिषदों की अन्तर्धारा के सूत्रों को समझने का प्रयास करना चाहिए तथा उनके एकत्वबोध द्वारा उनका प्रचार एवं प्रसार करना चाहिए। शङ्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्यों की विभिन्न विचारधाराओं की अन्तर्धारा ही सेतु का आधार है।

प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता को भारतीय दर्शन की प्रमुख धारा कहा गया है। इनमें भगवद्गीता का विशेष स्थान है। भगवद्गीता को उपनिषद् की मान्यता दी गयी है। भगवद्गीता साधना-ग्रन्थ होने के अतिरिक्त समन्वय-ग्रन्थ भी है।

भगवद्गीता की टीका 'गीता-रसामृत' में समन्वय का प्रयत्न किया

गया है। भगवत्कृपा से इसको देश-विदेश में सम्मान प्राप्त हुआ है। सन्त तुलसीदास तथा उनके पूर्ववर्ती नानक, कबीर, रैदास आदि महान् सन्तों ने समन्वय को ही प्रशस्त किया। हमें एक ओर पूर्वकालिक आचार्यों के विभिन्न मतों में एकत्व के बिन्दुओं पर बल देते हुए समन्वय का प्रयत्न करना चाहिए तथा दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रगति एवं आधुनिक विचारधारा के साथ भी समन्वय का प्रयास करना चाहिए, किन्तु अपनी मूल चिन्तनधारा को सुरक्षित रखना चाहिए। 'उपनिषद्-दिव्यामृत' में सभी विभिन्न मतों को, उन्हें समादृत करते हुए, यथाशक्ति एवं यथामति सूत्रबद्ध करने का प्रयास अभीष्ट है। लगभग ग्यारह प्रमुख उपनिषदों की सरल एवं सुगम व्याख्या द्वारा उपनिषदों के दिव्यामृत का प्रचार एवं प्रसार भगवत्कृपा से ही सम्पन्न हो सकेगा। 'ईशावास्य-दिव्यामृत' उसका प्रारम्भ है।

सहृदय एवं सुधी पाठकों के सुझावों का स्वागत करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। ज्ञानयज्ञ में अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुसार आहुति देनेवाले महानुभाव अवश्य ही पुण्य के भागी होंगे। सर्वांगपूर्ण भारतीय संस्कृति की सुरक्षा में योगदान देना सभी श्रेष्ठ पुरुषों का दायित्व है। भौतिक शक्तियों द्वारा विचार का विकास नहीं होता, बल्कि विध्वंस और विनाश का ताण्डव होता है तथा दुःख व्याप्त हो जाता है। चतुर्दिक् अन्धकार छा जाने पर उपनिषदों का प्रकाश ही, आध्यात्मिक आलोक ही, मानव-जाति के अस्तित्व की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। उपनिषदों का ज्ञान मानव-संस्कृति का मूल स्रोत एवं श्रेष्ठ आधार तथा एकमात्र त्राता सिद्ध हो सकता है। धन्य हैं वे थोड़े से वरपुरुष, जो उपनिषदों के प्रचार एवं प्रसार में योगदान देते हैं। निश्चय ही, यदि संस्कृति सुरक्षित रहेगी तो देश में अगणित नानक और तुलसी तथा दयानन्द और विवेकानन्द जन्म लेते ही रहेंगे। सर्वाधिक संरक्षणीय धर्म और दर्शन पर आधारित भारतीय संस्कृति है। धन्य हैं वे लोग, जो इसके संरक्षण एवं संपुष्टि के प्रति समर्पित हैं।

विजयनगर, मेरठ, उ०प्र० २५०००१ —शिवानन्द

प्रवेश

मनुष्य के जीवन की सबसे गहरी माँग अथवा उसकी सर्वाधिक प्रबल प्रवृत्ति है 'विद्' अर्थात् जानना। मनुष्य की यह नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह सब कुछ पूर्णत: जान लेना चाहता है। मैं कौन हूँ? मेरा आदि और अन्त क्या है ? यह जीवन क्या है ? जीवन के उद्गम और विलय का रहस्य क्या है? भय और चिन्ता तथा रोग, शोक और मृत्यु क्यों होते हैं तथा इनसे छुटकारा मिलना कैसे संभव है? यह जगत् क्या है? इसका प्रारम्भ और अन्त कैसे होता है? इसकी संरचना क्यों और कैसे हुई? इसके पृष्ठ में कौनसी आधारभूत सत्ता है? मेरा इस जगत् से तथा इसकी धारक सत्ता से क्या संबंध है? आनन्द क्या है? मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है? सारे युगों में तथा सारे देशों में ऐसे प्रश्नों के समाधान की खोज होती रही है। वास्तव में संसार के समस्त धर्मों एवं विविध दर्शन-पद्धतियों का प्रधान उद्देश्य इस मानवीय जिज्ञासा का समाधान करना ही है।

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति[१] का मूलस्रोत वेद हैं। 'विद्' से ही 'वेद' शब्द बना है। वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इनमें प्रमुख ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद हैं। वेद की ऋचाएँ लिखी नहीं गयीं तथा उन्हें सुनकर और कण्ठस्थ करके सुरक्षित किया गया। अतएव उन्हें 'श्रुति' भी कहा जाता है। वेद संसार के प्राचीनतम ज्ञान-ग्रन्थ हैं। वास्तव में वेद उच्चतम आध्यात्मिक धरातल पर संस्थित

१. जिस प्रकार धर्म का पर्यायवाची 'रिलीजन' नहीं है, संस्कृति का पर्यायवाची 'कलचर' नहीं है, उसी प्रकार दर्शन का पर्यायवाची 'फिलासफी' नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने मात्र बौद्धिक अनुमान और कल्पना का आधार लिया, किन्तु भारतीय ऋषियों ने अन्तश्चेतना में सत्य का साक्षात्कार किया अर्थात् उसकी अनुभूति की।

ऋषियों के शाश्वत चिन्तन एवं गहनतम अनुभूतियों के सहज उद्‌गार हैं। वैदिक ऋचाएँ उनके निर्मल मानस-पटल पर दैवी स्फुरण के माध्यम से अवतरित हुई। वेद मानो परमात्मा के निश्वसित हैं। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** अर्थात् ऋषि ऋचाओं अथवा मंत्रों के द्रष्टा थे, क्योंकि उन्होंने ऋचाओं के सत्य का साक्षात्कार किया अर्थात् उनकी अनुभूति की। **साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः**। ऋषियों ने धर्म अर्थात् सत्य का साक्षात् संदर्शन किया। वैदिक ऋचाएँ बौद्धिक रचनाएँ अथवा काल्पनिक सृजन नहीं हैं। वे महोच्चचेतना-स्तर के सशक्त उद्‌गार हैं तथा कालजयी एवं शाश्वत हैं। उनमें चिरन्तनता है, नित्यनूतनता है तथा अलौकिक सौन्दर्य है। वेद दिव्य आलोक के निधान हैं। वैदिक वाङ्मय सत्य की खोज में संलग्न ऋषियों की गहन साधना एवं अनुभूतियों के विस्तृत आलेख हैं।

वेद मूलत: मंत्रसंहिता हैं तथा अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् उनसे संबद्ध हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की तथा आरण्यकों में ज्ञान की चर्चा है। प्राय: ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्त में आरण्यक तथा आरण्यकों के अन्त में उपनिषद् हैं। कदाचित् इसी कारण से जैमिनि आदि ने वैदिक वाङ्मय के दो ही भाग किये हैं—वेदों की मंत्रसंहिता तथा वेदों से जुड़े हुए ब्राह्मण-ग्रन्थ। वेदों के मंत्रभाग और ब्राह्मण-ग्रन्थों को कभी-कभी कर्मकाण्ड तथा उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड भी कहा जाता है। उपनिषद् वेदों का नवनीत हैं, वैदिक वाङ्मय के सर्वोच्च शिखर हैं अथवा शिरोमुकुट हैं। उपनिषद् ही वेदान्त हैं अर्थात् वेदों का अन्त अथवा वेदों का मर्मभाग हैं, क्योंकि उनमें दिव्य ज्ञान सन्निहित है। 'उपनिषद्' का अर्थ है किसी ज्ञानी महात्मा के निकट (उप), श्रद्धाभाव से (नि), बैठना (सद्) अर्थात् ज्ञानसंपन्न महापुरुष के समीप अत्यन्त श्रद्धापूर्वक आध्यात्मिक ज्ञान को आत्मसात् करना।

वेदों एवं उपनिषदों के आविर्भाव के काल का निर्णय करना एक तत्त्व-जिज्ञासु के लिए नितान्त अनावश्यक है। सद्‌ग्रन्थों का लाभ उठाकर

आत्मोन्नति करना ही उनका प्रयोजन होता है। यह चर्चा करना भी कि विदेशों में वेदों एवं उपनिषदों का प्रचार कब, किसने और किस प्रकार किया तथा उन्हें कैसे महिमामण्डित किया, एक ज्ञानपिपासु के लिए महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। यह एक तथ्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वान् उपनिषदों से ऐसे मुग्ध हुए कि उनके चिन्तन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया तथा उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। [यह भी तथ्यात्मक है कि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने महीधर आदि के वेद-भाष्यों के दोषपूर्ण अंशों के आधार पर कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी किया है। इस परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन करना न्यायसंगत है। उन्होंने वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ भी स्वीकार नहीं किया।]

यद्यपि दर्शन, चिन्तन, मनन और मन्थन तथा गवेषणा की अन्तहीन यात्रा की परिणति अपने भीतर अनुभूति ही होती है, तथापि उनका भी अपना महत्त्व होता है। तत्त्वचिन्तन मनुष्य को अन्तर्मुखी बना देता है तथा मन की अन्तर्यात्रा का प्रारंभ हो जाता है। मनुष्य को अपने भीतर ही प्राप्तव्य एवं गन्तव्य की प्राप्ति हो जाती है तथा उसके जीवन में ऐसी कृतार्थता आ जाती है कि वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश तथा जीवन-मरण के द्वन्द्वों को पार करके आत्ममग्न हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने औपनिषदिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो परिश्रम किया तथा उसकी जो मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, उस सबको समेटना न संभव है और न विशेष उपयोगी ही है, तथापि कतिपय प्रमुख विद्वानों की प्रतिक्रिया का उल्लेख करना नितान्त प्रासंगिक है। पश्चिमी देशों में उपनिषदों के प्रचार और प्रसार का श्रेय मुगल सम्राट् शाहजहाँ के उदारचेता ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को देना चाहिए। उसके सत्ताप्रलुब्ध अमानवीय अनुज औरंगजेब ने उसकी हत्या (तीस अगस्त सोलह सौ उनसठ) करा दी थी तथा उसने अपने न्यायप्रिय पिता शाहजहाँ को जीवन के अन्त तक बन्दी

बनाये रखा था। दाराशिकोह के प्रभाव से औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा भी आध्यात्मिक हो गयी थी। दाराशिकोह ने (सन् १६४०) काशी आदि से पण्डितों को बुलाकर छह मास तक उपनिषदों की व्याख्या को सुना तथा उनसे मुग्ध होकर सन् १६५६ में पचास उपनिषदों का फारसी अनुवाद 'औपनिखत'[१] अपनी देखरेख में कराया। पूरे ग्रन्थ का नाम 'सिररी अकबर' है, जिसका अर्थ है 'रहस्यमय ज्ञान'। इसके चार भाग हैं—(१) दाराशिकोह द्वारा लिखित परिचय अथवा आमुख, (२) अनूदित उपनिषदों की सूची, (३) उपनिषदों का फारसी अनुवाद और (४) शब्दार्थ। उसने कहा—'किताबे कदीम कि बेशक व शुबह: अव्वलीन किताबे शुमारी व सर चश्माए तहक़ीक व बहर तोहाद अस्त' अर्थात् यह पुस्तक अनादि है और निस्सन्देह आध्यात्मिक पुस्तकों में प्राचीनतम है। यह सत्य का स्रोत तथा ब्रह्मज्ञान का समुद्र है। कालान्तर में (सन् १७५५) फ्रैंच विद्वान् एन्क्विटल ड्यू पैरों (Anquetil Du Perron) भारत आया और छह वर्षों में (सन् १७५५—१७६१) उसने अनेक संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया। उसे यहाँ दाराशिकोह के 'औपनिखत' (Oupenekehat) से भी परिचय हुआ। उसने उपनिषदों का प्रचार किया। ड्यू पैरों ने दाराशिकोह द्वारा अनूदित उपनिषदों का अनुवाद फारसी से लैटिन में (सन् १८०१-२) किया, जो जटिल एवं दुरूह था। उसे पढ़कर जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् एवं दार्शनिक शोपनहार (Schopenhauer सन् १७८८—१८६०) अभिभूत हो गया। संस्कृत भाषा एवं वैदिक वाङ्मय के महान् विद्वान् मेक्स मूलर (Max Muller) ने अनेक स्थलों पर शोपनहार द्वारा की गयी उपनिषदों की प्रशस्ति का विशद उल्लेख किया है। मेक्स मूलर ने स्वयं भी बारह पुरातन उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया (सन् १८७९—१८८४) तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। शापनहार ने उपनिषदों को प्रकाशमय स्वीकार करते हुए यह कह दिया कि उपनिषद् न केवल

१. Max Muller : The Sacred Books of the East, Vol. I.

जीवनकाल में, बल्कि मृत्यु के समय भी उसका एक शान्तिस्रोत बने रहेंगे। मेक्स मूलर ने कहा कि शापनहार के कथन को वे स्वयं भी प्रमाणित करते हैं। शापनहार ने इसे छिपाया नहीं कि उसका दर्शन उपनिषदों के मूल तत्त्वों से ओतप्रोत है।[१] शापनहार ने 'तत्त्वमसि' को अनन्त सत् तत्त्व का सूत्र कहते हुए हिन्दुओं के चिन्तन को यूरोपीय चिन्तन की अपेक्षा अधिक गहन कहा।[२]

---

१. "..........I believe that the influence of the Sanskrit literature will penetrate not less deeply than did the revival of Greek literature in the fifteenth Century." (Schopenhauer: Preface to The World as Will and Idea). .... "How does every line (in the Upanishads) display its firm, definite and throughout harmonious meaning! From every sentence deep, original and sublime thoughts arise and the whole is pervaded by a high and holy and earnest spirit.... In the whole world there is no study, except that of the originals (the Vedas), so beneficial and so elevating as that of the Upanishads....It has been the solace of my life, it will be the solace in my death....They (the Upanishads) are the product of the highest wisdom (ausgeburt der hochsten weisheit). They are destined sooner or later to become the faith of the people...." (Schopenhauer), Max Muller says, "If these words of Schopenhauer require endorsement, I shall willingly give it as a result of my experience during a long life devoted to study of many philosophies and many religions" "Schopenhauer not only read the translation (of the Upanishads) carefully but he makes no secret of it that his own philosophy is powerfully impregnated by the fundamental doctrines of the Upanishads." (Max Muller: The Sacred Books of the East Vol. I Introduction)

२. "The Hindus were deeper than the thinkers of Europe because their interpretation of the world was internal and intuitive, not external and intellectual. The intellects divides everything, intuition unites everything. The Hindus saw that 'I' is a delusion, that the individual is merely phenomenal and that the whole reality is the Infinite one—that art thou." (Schopenhauer)

शापनहार कहते हैं कि उपनिषद् उच्चतम मानवीय ज्ञान एवं विवेक का फल हैं तथा उनमें प्राय: अतिमानवीय धारणाएँ सन्निहित हैं, जिनके जनक (रचयिता) कठिनाई से ही मात्र मनुष्य कहे जा सकते हैं।[१]

उपनिषदों के अनुवाद अगणित विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं में किये, जिनकी परिगणना करना भी संभव नहीं है।[२] विश्व के असंख्य विद्वानों ने

---

१. "They present the fruit of the highest human knowledge and wisdom and contain almost superhuman conceptions whose originators can hardly be regarded as mere men."

—Schopenhauer.

२. ई. रोअर (E. Roer) का अनुवाद (सन् १८४८—१८७४)
एफ. मिशल (F. Mischel) का जर्मन अनुवाद (सन् १८८२)
मेक्स मूलर (Max Muller) का अंग्रेजी अनुवाद (सन् १८७९—१८८४)
बोहटलिंक (O. Bohtlingk) का जर्मन अनुवाद (सन् १८८९)
डॉ० पाल ड्यूसन (Paul Deussen) का जर्मन में अनुवाद (सन् १८९४), उनकी प्रख्यात पुस्तक "The Philosophy of the Upanishads"
आर. ई. ह्यूम (R.E. Hume) तेरह प्रमुख उपनिषदों का अनुवाद (सन् १९५१) 'The Thirteen Principal Upanishads'.
जी. आर्क (G. Arch) 'Is God Knowable'
सर विलियम जोन्स (Sir William Jones), सर मोनियर विलियम्स (Sir Monier Williams : Indian Wisdom), मेकडोनल (Macdonell), ए. इ. गफ (A. E. Gough : The Philosophy of Upanishads), ओल्डनबर्ग (Oldenberg), होपकिन्स (E.W. Hopokins : Religions of India), वेबर और पैरी (Altracht Weber, R.B. Perry), डॉ० गोल्डस्टकर (Dr. Goldstucker), ए. बी. कीथ (A. B. Keith), विन्टरनीत्ज (Winterneitz), शेलिंग (Schelling), रेवरेन्ड ए० गेडन (Rev. A. Geden) आदि अनेक विदेशी विद्वानों ने उपनिषदों की असाधारण प्रशंसा की है। इनके अतिरिक्त जी० आर० एस० मीड, चार्ल्स जौन्सटन, डॉ० मैक्नीकल, डॉ० वेट्टी हाइमन, ओट्टो वेकर, होलेब्रान्त, एच० डी० ग्रिसवोल्ड, एल० डी० वार्नेट, व्हिटने, स्ट्राउस, प्रो० हर्टेल, पाल रेनाड, बेलोनी फिलिप्पी इत्यादि विद्वानों ने भी उपनिषदों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया है।

उपनिषदों की जो मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की उसका उल्लेख करना भी संभव नहीं है। पाल ड्यूसन (Paul Deussen) उपनिषदों के धुरन्धर विद्वान् थे तथा उन्होंने उपनिषदों की विश्लेषणात्मक व्याख्या करते हुए उपनिषदों की प्रशंसा अनेक आयामों से की। यह कहना प्रासंगिक होगा कि ड्यूसन का मत है कि पुनर्जन्म की चर्चा कुछ प्रारंभिक उपनिषदों में नहीं है तथा चित्तरूपी संसार में ही पुनर्जन्म होता रहता है तथा मोक्ष सर्वोच्च लक्ष्य है और मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है। युवान मस्खारस का भी यही मत है। **'चित्तमेव हि संसारः'** (मैत्रायणी उपनिषद्)

पाल ड्यूसन ने कहा—"उपनिषदों के दर्शन में विश्व-संबंधी भारतीय सिद्धान्त सर्वोच्च बिन्दु पर हैं, जो वैदिक काल में प्राप्त हो चुका था।"

दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से विचार के विकास में आज तक इससे बढ़कर कुछ भी प्रतिपादित नहीं हो सका है.... बौद्ध दर्शन स्वतंत्र होकर भी अपने प्रमुख बिन्दुओं में उपनिषदों के उपदेशों का ऋणी है।" "ब्रह्म-आत्मैक्य का दार्शनिक महत्त्व केवल उपनिषदों के काल और देश से परे ही नहीं है, बल्कि समस्त मानवता के लिए अकल्पनीय मूल्यवान् है....एक बात विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि भविष्य में दर्शन के क्षेत्र में कुछ भी नया कहा जा सके, यह सिद्धान्त स्थायी रूप से अविचलित रहेगा और इससे हटना संभव नहीं होगा।.....समाधान तो हमारे अन्तरात्मा में ही संभव है.....उपनिषदों के मौलिक चिन्तकों के लिए यह अमर प्रतिष्ठा का विषय है कि उन्होंने मनुष्य के अन्तस्तल में स्थित आत्मा को सृष्टि का अन्तःकेन्द्र ब्रह्म ही स्वीकार कर लिया।"[१] उसने यह भी कहा, "अपने पड़ोसी को

१. "...... the Philosophy of the Upanishads, the culminating point of the Indian doctrine of the Universe. This point had been already reached in Vedic Pre-Buddhist times; and in philosophical significance has been surpassed by none of the later developments of thought up to the present day....Buddhism also, though of entirely independent origin, yet betrays its indebtedness in essential points to the teaching of the Upanishads." (Deussen)

अपनी भाँति प्रेम करो—यह ठीक ही है, किन्तु मैं ऐसा क्यों करूँ, क्योंकि मैं अपने सुख-दु:ख को स्वयं में अनुभव करता हूँ, पड़ोसी में नहीं। इसका उत्तर बाइबिल में नहीं है, वेद में केवल तीन शब्दों में है 'तत्त्वमसि'।[१]

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् ओल्डेनबर्ग ने कहा कि उपनिषदों के सन्देश और बौद्ध-दर्शन में कोई विशेष अन्तर नहीं है; केवल औपनिषदिक मान्यताओं को नवीन शैली में प्रस्तुत कर दिया गया है।

उपनिषदों के सन्दर्भ में फ्रेंच दार्शनिक विक्टर कजिन्स ने कहा कि प्राच्य दार्शनिक ज्ञान की तुलना में यूरोपीय बुद्धि घुटने टेक देती है तथा

---

१. "........ and fix our attention upon it solely in its philosophical simplicity as the identity of God and the soul, the Brahman and the atman, it will be found to possess a significance reaching far beyond the Upanishads, their time and country; nay, we claim for it an inestimable value for the whole race of mankind. We are unable to look into the future, we do not know what revelations and discoveries are in store for the restlessly inquiring spirit, but one thing we may assert with confidence—whatever new and unwonted paths the philosophy of the future may strike out, this principle will remain permanently unshaken, and from it no deviation can possibly take place.... the key can only be found where alone the secret of nature lies open to us from within, that is to say, in our innermost self. It was here for the first time the original thinkers of the Upanishads, to their immortal honour, found it when they recognised our atman, our inmost individual being, as the Brahman, the inmost being of universal nature and of all her phenomena." "The Gospels quite correctly establish as the highest law of morality, 'Love your neighbour as yourselves. But why should I do so since by the order of nature I feel pain and pleasure only in myself, not in my neighbour ? The answer is not in the Bible.... but it is in the Veda, in the great formula 'That art Thou' which gives in three words the combined sum of metaphysics and morals. You shall love your neighbour as yourselves because you are your neighbour." (Deussen)

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगल ने कहा कि प्राच्य आदर्शवाद के सामने उच्चतम यूरोपीय दर्शन फीका पड़ जाता है।[१] सर डब्ल्यू हंटर ने लिखा, 'जिन समस्याओं को रोमन और ग्रीक नहीं सुलझा सके, जिन प्रश्नों ने मध्यकाल के तथा आधुनिक वैज्ञानिकों को उद्विग्न किया, उन सबका उत्तम और उचित उत्तर भारतीय दर्शनों में उपलब्ध है।[२] ह्यूम ने लिखा कि सुकरात, प्लेटो, अरस्तु आदि उतने ज्ञानी नहीं थे, जितने उपनिषदों के ऋषि थे। उनसे बढ़कर न कोई ज्ञानी हुआ है, न कभी होगा। विन्टरनीज़ ने कहा कि भारत में इण्डो यूरोपीयन संस्कृति सुरक्षित है।[३] आश्चर्य तो यह है कि उपनिषदों के प्रशंसकों में यूरोप के मर्डक प्रभृति पादरियों और प्रशासकों का बाहुल्य है। एनी बीसेन्ट ने उपनिषदों को मानव-मन की सर्वोच्च उपज कहा।[४] उपनिषदों तथा गीता के परम प्रशंसक अमेरिकी विद्वान् आर०

---

१. "When we read the poetical and philosophical monuments of the East, above all those of India, we discover their many truths so profound and which make such a contrast, with the result at which the European genius has sometimes stopped that we are constrained to bend the knee before the philosophy of the East."
—Victor Cousins.

"Even the loftiest philosophy of the Europeans appears in comparison with the abundant light of oriental Idealism like a feeble Promethean spark in the full flood of the heavenly glory of the noonday Sun-faltiring and feeble and ever ready to be extinguished." —Fredrick Schlegel.

२. Indian Gazetteer P. 213-214

३. "If we wish to learn the beginning of our own culture, if we wish to understand the oldest European culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo-European people is preserved." —Winternitz.

४. "Personally I regard the Upanishads as the highest product of the human mind, the crystallised wisdom of divinely illumined mind." —Annie Besant.

डब्ल्यू० इमर्सन को बोस्टन का ब्राह्मण कहा जाता था। उनके लेख और कविता उपनिषदों से प्रभावित हैं। अमेरिका में उनका सन्मित्र और आध्यात्मिक बन्धु हेनरी डेविड थारो भी उपनिषदों तथा गीता का भक्त था। स्पेन के युवान मस्खारस ने उपनिषदों की अत्यन्त भावग्राही भाषा में, उपनिषदों को धर्मग्रन्थों का हिमालय कहकर, उनकी विस्तारपूर्वक प्रशंसा की है।[१]

भारत के सभी मूर्धन्य विद्वानों ने उपनिषदों को ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा है। उनमें डॉ० आर० डी० रानडे, राजगोपालाचारी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ० राधाकृष्णन, रंगनाथानन्द, चिन्मयानन्द आदि प्रमुख हैं।

उपनिषदों के सारतत्त्व का उद्घाटन तथा उनकी महिमा का गान जैसा स्वामी विवेकानन्द ने किया है, वह अप्रतिम है। विवेकानन्द उपनिषदों में वर्णित तेजस्विता पर मुग्ध थे तथा सबको तेजस्वी, स्वाधीन और शक्तिशाली होने का उपदेश देते थे। 'उठो, तेजस्वी बनो, शक्तिशाली बनो, स्वाधीन बनो'—यह उनका जन-जागरण का महामंत्र था।[२]

उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान के अक्षय स्रोत हैं तथा मानवमात्र के

---

१. "Among the sacred books of the past, the Upanishads can be called, in truth, Himalayas of the Soul." —Juan Mascaro.

२. "The Upanishads are the great mine of strength. Therein lies strength enough to invigorate the whole world. The whole world can be vivified, made strong, energised through them. They would call with trumpet voice upon the weak, the miserable and all the down trodden of all races, all creeds, all sects, to stand on their feet and be free. Freedom—physical freedom, mental freedom and spiritual freedom are the watchwords of the Upanishads." —Swami Vivekananda.

कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि ज्ञान किसीके लिए वर्जित एवं निषिद्ध हो सकता है। परमात्मा तथा परमात्मा का ज्ञान किसीके लिए एकाधिकार नहीं हो सकते तथा वे सदैव सर्वसुलभ हैं। वेद और उपनिषद् प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जाति, प्रत्येक सम्प्रदाय तथा प्रत्येक देश के लिए समान रूप से उपास्य हैं। निश्चय ही मनुष्य श्रद्धा एवं सात्त्विक ज्ञानपिपासा से युक्त होकर ही ज्ञानलाभ का अधिकारी हो सकता है। उपनिषदों को मात्र पढ़ लेना अथवा उन्हें कण्ठस्थ कर लेना पर्याप्त नहीं है। उनके सन्देशों को आत्मसात् करने के लिए गंभीर मनन की आवश्यकता है।

यद्यपि उपनिषद् वस्तुत: ऋषियों की गहन आन्तरिक अनुभूतियों के उद्गार हैं, तथापि उनमें चिन्तन, तार्किकता एवं तारतम्य है तथा कहीं दुराग्रह एवं खण्डन-मण्डन नहीं है। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर यज्ञादि कर्मकाण्ड को निरर्थक कह दिया गया है तथा मात्र ज्ञान की ही प्रतिष्ठा की गयी है। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** अर्थात् ज्ञान बिना मुक्ति संभव नहीं है। **ज्ञानादेव कैवल्यम्** अर्थात् ज्ञान से ही कल्याण हो सकता है। उपनिषदों में एक ही तथ्य को अनेक प्रकार से कह दिया गया है तथा कहीं भिन्नता अथवा परस्पर विरोध नहीं है। उनमें कथ्य में स्पष्टत: एक तारतम्य है। उपनिषदों के ज्ञान में वेदों के कर्मकाण्ड एवं प्रार्थनाओं आदि से परे जाकर चिन्तन और अनुभूति के सहज उद्गारों की प्रधानता है।[१]

सभी उपनिषदों में अगणित स्थानों पर यह बलपूर्वक स्पष्ट किया गया है कि विश्व की परमसत्ता, जो सत्य का भी सत्य अर्थात् आत्यन्तिक सत्य

---

१. "As we pass from the Vedas to the Upanishads, we pass from prayer to philosophy, from hymnology to reflection, from henotheistic polytheism to monotheistic mysticism." (R. D. Ranade—A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.)

है (**सत्यस्य सत्यम्**), एक ही है। वह अद्वैत है।[१] प्रकृति तथा जीवात्मा अनादि प्रतीत होते हैं, किन्तु वे नित्य नहीं हैं तथा उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उपनिषदों का उद्घोष है कि मनुष्य का आत्मा (जीवात्मा अथवा अन्तरात्मा) तत्त्वत: सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है तथा प्रकृति (जिसे माया कहा गया है) परमात्मा की प्रच्छन्न शक्ति है।[२] मनुष्य का आत्मा तत्त्वत: परमात्मा होकर भी, इन्द्रियों और मन के द्वारा जगत्-प्रपञ्च में फँसकर अथवा अज्ञानान्धकार से आवृत होकर निज स्वरूप की विस्मृति के कारण सुख-दु:ख के भ्रम में पड़ा रहता है। अपने निजस्वरूप को जानना, पहचानना और उसमें स्थित हो जाना अथवा ब्रह्म तथा आत्मा की एकता की अनुभूति करना अध्यात्म का एकमात्र उद्देश्य है। उपनिषदों का प्रयोजन ब्रह्म और जीवात्मा की स्वरूपगत एकता कहकर ब्रह्म का बोध कराना, एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को प्रतिष्ठित करना है। अनुभूति बिना ब्रह्म की चर्चा करते रहना निरर्थक है।[३]

वे लोग, जो सद्ग्रंथों के द्वारा मात्र बौद्धिक व्यायाम एवं बौद्धिक

---

१. **सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** (छान्दोग्य उप० ६.२.१)—हे सोम्य, प्रारंभ में वह एक ही था तथा दूसरा कोई नहीं था। पाश्चात्य विद्वानों का निश्चित मत है कि विश्व में शङ्कराचार्य से बढ़कर अन्य कोई तत्त्वचिन्तक एवं दार्शनिक नहीं हुआ। शङ्कराचार्य ने अद्वैत की ही पुष्टि की। सारे उपनिषद् अद्वैत का उद्घोष करते हैं। वह एक है, एक ही है। वही एक सत् है।

२. **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** (श्वेताश्वतर उप० १.३) —ऋषियों ने ध्यानावस्था में स्थित होकर परमात्मा की निगूढ शक्ति को देखा।

मायांतु प्रकृतिं विद्यात् (श्वेत० उप० ४.१०) —माया को प्रकृति समझें। प्रकृति को वेदान्त में माया कहा गया है।

३. **अनुभूतिं विना मूढो ब्रह्मणि मोदते** (मैत्रे० उप० २.२२) —अनुभूति बिना ब्रह्म की चर्चा निरर्थक है।

मनोरंजन करते हैं अथवा मात्र ग्रन्थ पाठ करके अध्यात्म की इतिश्री समझ लेते हैं तथा जिनके जीवन में साधना-पक्ष शून्य होता है, भटक जाते हैं। वे लोग, जो सीढ़ियाँ छोड़कर और छलाँग लगाकर शिखर को छू लेना चाहते हैं, कभी तत्त्वानुभूति नहीं कर पाते तथा वे भी भटकते ही रहते हैं। स्वाध्याय तथा साधना—दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। मात्र मंत्रज्ञ होने तथा मंत्रों की विवेचना करने में दक्ष हो जाने अथवा मात्र तत्त्वचर्चा करते रहने से यथार्थ का परिचय नहीं होता।

स्वाध्याय और साधना का उद्देश्य आन्तरिक विकास द्वारा चेतना एवं ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण, अपने भीतर आलोक, ओज और तेज का उदय तथा मनुष्य का पूर्ण रूपान्तरण होना है। मनुष्य अपने भीतर के जगत् को जानकर ही बहिर्जगत् के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकता है। निज स्वरूप को जानकर ही मनुष्य का मन विराट् और व्यापक हो सकता है और सर्वत्र सौन्दर्य का संदर्शन कर सकता है।

ब्रह्मविद्या परा विद्या है, सब विद्याओं में श्रेष्ठ है।[1] ब्रह्मविद्या का तात्पर्य शब्दों एवं मंत्रवाक्यों को मात्र जान लेना नहीं है, बल्कि उन्हें आत्मसात् कर लेना है। उपनिषदों का उद्देश्य ब्रह्म को जान लेना नहीं है, बल्कि ब्रह्म हो जाना है।[2] दिव्यानुभूति ही लक्ष्य है। वही जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है, जीवन की सार्थकता है।

जब मनुष्य की सीमित चेतना का विस्तार होता है और वह अपने भीतर ही विश्व-चेतना की खोज कर लेता है, वह सिद्धान्तों और मतों के बन्धन

---

१. अध्यात्मविद्या विद्यानाम् (गीता १०.३२)—सब विद्याओं में अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ है।

२. ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० उप० २.१) —ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० उप० ३.२.९) —ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है।

से मुक्त होकर विश्वात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।[१] ब्रह्म का ज्ञान होना ब्रह्म हो जाना है। महायोगी अरविन्द भी इस पर बल देते हैं।[२]

मनुष्य इन्द्रियातीत होकर आनन्दानुभूति कर लेता है तथा विशुद्ध चेतना के यथार्थ को जान लेता है। ब्रह्मज्ञान का सिद्धान्त मात्र ब्रह्मचर्चा करना एवं बुद्धि के द्वारा जान लेना कदापि नहीं है, बल्कि ब्रह्म की दिव्यानुभूति करना है। जर्मनी के प्रख्यात विचारक एल्बर्ट श्वाइत्सर ने उपनिषदों के संदेश से अभिभूत होकर इसीकी स्थापना की।[३]

इन्द्रिय, मन और बुद्धि के स्तर पर रहते हुए संसार को असत् एवं मिथ्या कहकर अपने प्रति तथा समाज के प्रति कर्तव्य से पलायन कर जाना अविवेक है। ब्रह्मज्ञानी को सृष्टि में सर्वत्र आनन्दमयता का अनुभव होता है तथा वह अन्तःप्रकाश से प्रेरित एवं अनुप्राणित होकर अनासक्त एवं उदात्त भाव से कर्म करता है। वह संसार में रहते हुए जल में कमल के सदृश पवित्र एवं प्रसन्न रहता है। होपकिन्स (E. W. Hopkins) तथा

१. **ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः** (श्वेत० उप० ५.१३) —ज्ञान होने पर बन्धनमुक्त हो जाता है।

२. "Knowledge does not end with knowing, nor is it pursued and found for the sake of knowing alone. It has its full value only when it leads to some greater gain than itself, some gain of being. Simply to know the eternal and to remain in the pain, struggle and inferiority of our present way of being, would be a poor and lame advantage .... To be is the first verb which contains all the others; knowledge, action, creation, enjoyment are only a fulfilment of the being". —Shri Aurbindo.

३. "Man does not attain to union with the Brahman (ब्रह्मन्) by means of any achievement of his natural power of gaining knowledge, but solely by quitting the world of senses in a state of ecstacy and thus learning the reality of Pure Being. The Brahmanic Doctrine is concerned with a truth that must not merely be known but also experienced." —'Indian Thought And Its Development' —Albert Schweitzer.

डॉ० राधाकृष्णन ने इस पर बल दिया है।[1] एल्बर्ट श्वाइत्सर ने इस पर विस्तार से चर्चा की है। कर्म करने से चित्त-शुद्धि होती है तथा चित्त-शुद्धि से ज्ञान-प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

परब्रह्म परमात्मा परम सत् है, वह सत्य का भी सत्य है। परम सत्य को जानने की इच्छा (तत्त्व-जिज्ञासा) तथा आनन्द की खोज एक ही मूल प्रवृत्ति के दो पक्ष हैं। परम सत् को जान लेने से, ब्रह्मज्ञान से, आनन्द स्वतः उपलब्ध हो जाता है। परम सत् चित्स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है तथा मूलतः मनुष्य भी चित्स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है। अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लेने से मनुष्य की समस्त अशान्ति और उसके समस्त दुःख का अन्त हो जाता है। मनुष्य का मन समस्त सुखसामग्री प्राप्त करने पर अथवा कुछ भी न प्राप्त करने पर भी अशान्त ही रहता है, क्योंकि सुख-शान्ति का संबंध भौतिक पदार्थों के परिग्रह से नहीं है, बल्कि निज स्वरूप

---

१. Indian Philosophy Vol. I (Dr. Radhakrishnan)
भारतीय संस्कृति के यशस्वी प्रस्तोता डॉ० राधाकृष्णन ने ड्यूसन और फ्रेजर द्वारा वेदान्त के सिद्धान्त 'सृष्टि एक भ्रम' (Creation as an illusion) के समर्थन की आलोचना की और कहा कि अनन्त ब्रह्म की धारणा से सान्त जगत् (सृष्टि) का निषेध नहीं हो जाता तथा सृष्टि एक सत्य है। हापकिन्स ने कहा कि प्राचीन उपनिषदों में सृष्टि को भ्रम नहीं कहा गया है। कदाचित् डॉ० राधाकृष्णन द्वारा ड्यूसन की आलोचना का आधार ड्यूसन के द्वारा वेदान्त के अजातवाद (सृष्टि का जन्म ही नहीं हुआ) तथा विवर्तवाद (सृष्टि की प्रतीति होती है, किन्तु इसका अस्तित्व नहीं है) को प्लेटो, कान्ट और शापनहार की धारणाओं के साथ जोड़ना था। 'नेति नेति' का अर्थ सृष्टि के अस्तित्व का निषेध नहीं है, बल्कि ब्रह्म को बुद्धि के लिए अगम्य कहना है। इस संदर्भ में हमारा मत है कि इन्द्रियों एवं बुद्धि के स्तर पर जगत् का अस्तित्व है, किन्तु आत्मा के स्तर पर मात्र एक ब्रह्म की ही सत्ता है। इस प्रकार जगत् का अस्तित्व व्यावहारिक अवश्य है, किन्तु पारमार्थिक नहीं है। स्वयं शङ्कराचार्य ने 'सम्पूर्ण जगदेव नन्दनवनम्' कहकर स्पष्ट किया कि पूर्ण ज्ञानी के लिए जगत् सुन्दर है तथा सर्वत्र दिव्य सौन्दर्य छिटक रहा है। 'जित देखौं तित श्याममयी है।'

की खोज से है। मनुष्य की समस्त अशान्ति और उसके समस्त दु:ख का मूल कारण निज आनन्दस्वरूप का विस्मरण अथवा अज्ञान है तथा उनके निवारण का उपाय स्वरूप का ज्ञान एवं उसकी अनुभूति करना है। आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान एवं दिव्यानुभूति प्राप्त होने से ही पूर्ण शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति होना संभव है। विश्व की दिव्य सत्ता परब्रह्म परमात्मा को मनुष्य का आत्मा कहने का आशय यह है कि सब कुछ अपने भीतर ही है और भीतर ही आनन्द की खोज करनी चाहिए। ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड तथा परमात्मा और आत्मा तत्त्वत: एक ही हैं। ब्रह्म के जानने पर सब कुछ विदित हो जाता है।[१]

आध्यात्मिक साधना में मन की विशेष भूमिका होती है। मन चेतना की एक तरङ्ग है, जो मूलत: निर्मल है, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा बहिर्जगत् से जुड़कर मलिन हो जाती है। मन संकल्प-विकल्पों अथवा विचारों एवं भावनाओं का प्रवाह होता है। मनुष्य मन की तटस्थ अवस्था में स्थित होकर विचारों को उठते और गिरते हुए देख सकता है, जिस प्रकार चित्रों को चित्रपट पर आते और जाते हुए देखता है। जिस प्रकार चित्रों के हट जाने पर चित्रपट (स्क्रीन) अपने स्वच्छ रूप में प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानकाल में विचारशून्य अवस्था में मन निर्विकार, निर्मल और पारदर्शक हो जाता है। मन संकल्प-विकल्पों द्वारा चित्स्वरूप आत्मा को आच्छादित करके उसमें सीमित, बन्धनमय एवं दु:खी होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है, यद्यपि वह निर्मल, मुक्त एवं आनन्दस्वरूप है। मन निर्मल होकर चैतन्यस्वरूप आत्मा (परमात्मा) में निमग्न होकर आनन्दानुभूति कर लेता है। मलिन मन बन्धन एवं दु:ख का तथा निर्मल मन मोक्ष एवं आनन्द का कारण होता है। मनुष्य अपने दु:ख का कारण स्वयं होता है तथा स्वयं उनका निवारण कर सकता है। समस्त साधना का उद्देश्य मन को निर्मल

---

१. **विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्** (बृह० उप० २.४.५), **विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्** (बृह० उप० ४.५.६) —ब्रह्म के ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

करना होता है। मन के निर्मल होने पर मनुष्य जल में कमल की भाँति पवित्र और प्रसन्न रह सकता है।

परब्रह्म परमात्मा एक ही है, यद्यपि उसके अनेक नाम तथा अनेक वर्णन हैं। **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋग्वेद १.१६४.४६)। प्रतीत होनेवाले नानात्व, अनेकत्व एवं भिन्नत्व के पृष्ठ में एक ही अविनाशी परमतत्त्व सन्निहित है, जो सत्य का भी सत्य अथवा आत्यन्तिक सत्य है। वही एक सर्वत्र व्याप्त नित्य तत्त्व है तथा अन्य कुछ भी यथार्थतः है ही नहीं। एक ही दिव्य सत्ता अमूर्त एवं मूर्त, अव्यक्त एवं व्यक्त, पर ब्रह्म एवं अपर ब्रह्म तथा मायोपाधिरहित एवं मायोपाधिसहित ईश्वर है। दृश्यमान जगत् की व्यावहारिक सत्ता है, यद्यपि पारमार्थिक सत्ता केवल परब्रह्म परमात्मा की ही है। मनुष्य को व्यवहार-जगत् में विवेकपूर्ण व्यवहार करते हुए परमार्थ की ओर बढ़ते रहना चाहिए।

वेद तथा उपनिषद् पुनः-पुनः उद्घोष करते हैं कि विश्व की उत्पत्ति, पोषण और उसका लय करनेवाली दिव्य सत्ता का विवेचन करना संभव ही नहीं है। मानवीय मेधा ससीम है तथा तर्क उसे दूर तक नहीं ले जा सकता। वेद 'नेति नेति' कहकर इसकी सूचना देते हैं तथा उपनिषद् उसे प्रवचन, मेधा, श्रवण आदि के द्वारा अलभ्य कहते हैं।[१] ज्ञान मात्र जानने में परिसमाप्त नहीं हो जाता। ज्ञान की सार्थकता चैतन्यस्वरूप परमात्मा की दिव्यानुभूति करना है। ब्रह्मज्ञानी शोक, मोह, दुःख, भय और चिन्ता से मुक्त होकर आनन्दमय हो जाता है।[२] ब्रह्मविद्या का अनुशीलन अन्तश्चेतना की अनुभूति-यात्रा है। जहाँ भौतिक विज्ञान तथा बौद्धिक अन्वेषण की

---

१. **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ (कठोप० १.२.२३)— आत्मा प्रवचन, मेधा, श्रवण से प्राप्त नहीं होता। सत्पात्र होने पर वह स्वयं ही स्वयं को प्रकट कर देता है।

२. **न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्** (श्वे० उप० २.१२) —योगाग्निमय शरीर होने पर वह रोग, जरा, मृत्यु से परे चला जाता है।

परिसमाप्ति हो जाती है, वहाँ अध्यात्म का प्रारंभ होता है। अपने भीतर अन्तश्चेतना की यात्रा द्वारा सत्य का संदर्शन करना उपनिषदों का साध्य है।

ऋषियों की दिव्यानुभूति के प्रेरणाप्रद सहज उद्‌गार उपनिषदों के अमृत सरोवर हैं, जिनसे अभय और आनन्द प्रवहमान होते हैं। भाषा और शैली भाव के अनुरूप सरल, सरस और ओजमय हैं। भारतीय मनीषा का ऐसा तेजोमय वर्चस्व अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। निश्चय ही वे मानवीय चेतना की शीर्षस्थ कृति हैं तथा मानवमात्र की अमर निधि हैं।

स्वानुभूति श्रेष्ठ प्रमाण होता है। चेतना अनन्त है और उसकी अनुभूति भी अनन्त है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना प्रकाशदीप बनकर अपना उद्धार कर सकता है। अपने भीतर ही अमृत के स्रोत हैं तथा बाहर केवल भटकना है। मनुष्य अपने भीतर आत्मा से जुड़कर पूर्ण शान्ति एवं आनन्द को प्राप्त कर सकता है। आत्मसाक्षात्कार जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि एवं सार्थकता है। स्वानुभूति पर बल देते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि मात्र देह-वासना एवं लोक-वासना ही नहीं, शास्त्र-वासना भी त्याज्य है। उपनिषदों को केवल रटते रहना और मात्र उनका पाठ करते रहना तथा उनके अर्थों पर विवाद करते रहना अविवेक है।

मनुष्य को जीवन के विभिन्न स्तरों पर जीना होता है तथा उसे उनका एक विवेकपूर्ण सन्तुलन एवं सामंजस्य स्थापित करना होता है। मनुष्य के भीतर एक दुर्दम्य पशु भी है, जो उग्र होकर मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर लेता है तथा मनुष्य को निम्न स्तर पर घसीटकर उसकी समस्त शक्तियों का क्षय एवं विनाश कर देता है। किन्तु मानव में बौद्धिक स्तर पर सत्य की जिज्ञासा तथा आत्मा के स्तर पर सत्य के साक्षात्कार द्वारा आनन्दानुभूति करने की प्रबल अन्तःप्रेरणा भी होती है, जो उसे ऊपर उठने और जीवन को कृतार्थ करने का संकेत देती रहती है। निश्चय है मन को दैहिक वासनाओं की तृप्ति से बढ़कर भी कुछ चाहिए। रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता की पूर्ति तथा प्रचुर भौतिक सुखभोग से आत्यन्तिक तृप्ति

नहीं होती। आत्यन्तिक तृप्ति के लिए मनुष्य को अपने भीतर ही प्रवेश करना होता है। उपनिषद् बलपूर्वक कहते हैं—**नान्यः पन्थाः**। मानव के समग्र विकास तथा आनन्द-प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

संसार के समस्त पवित्र ग्रन्थों में केवल उपनिषदों का ही यह स्पष्ट उद्‌घोष है कि (१) ईश्वर जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण है तथा वह इसके कण-कण में व्याप्त है; सृष्टि ईश्वररूपा है। (२) मानव का आत्मा तत्त्वतः परमात्मा ही है; मानव मूलतः दिव्य है। मनुष्य अपने भीतर ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। मानव की सभी समस्याएँ मानवीय हैं और उनका स्थायी समाधान आध्यात्मिक है।

अगणित सन्त भारतीय चिन्तन-परम्परा से जुड़कर, उपनिषदों के सनातन तत्त्वों को आत्मसात् करते हैं तथा लोक का उपकार करते हैं। अनेक भारतीय सन्तों ने लोकभाषा में ऋषियों के सन्देश का प्रचार किया, किन्तु उनके अनुयायियों ने अपने सन्त गुरुओं को केन्द्रित करके उनके नाम पर नये-नये पन्थ बना दिये तथा उन्हें और उनके उपदेशों को सीमित एवं संकीर्ण बना दिया। अगणित पुरुष और स्त्री स्वयं ही सिद्ध, विश्वगुरु, जगद्‌गुरु और भगवान् बनकर अटपटे मार्गों का निर्माण कर रहे हैं तथा व्यक्तिपूजा एवं आत्मकेन्द्रित प्रचार के प्रपञ्च में फँसकर न केवल स्वयं भटक रहे हैं, बल्कि अगणित अबोधजन को भी भटका रहे हैं। अनेक गुरुमत और सन्तमत देश-विदेश में प्रचार-केन्द्रों की शृंखला द्वारा मात्र अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में ही रुचि ले रहे हैं। वास्तव में अनुभूति के आधार पर नयी पद्धतियों के निर्माण से विकास अवश्य संभव हो सकता है, किन्तु मूलस्रोत से जुड़े रहने पर ही शाखाधाराओं के प्रवाह में नितनूतनता बनी रह सकती है। मूल से विच्छिन्न होने पर उपधाराओं में विकार उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। '**कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद्‌ग्रन्थ, दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रकट भए बहु पन्थ।**'

उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों तथा उनकी चिन्तनधारा के अध्ययन एवं

अनुशीलन बिना कोई भी व्यक्ति भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति में गहरी पैठ नहीं कर सकता। उपनिषदों की उपेक्षा करना भारत की मूल चिन्तनधारा की उपेक्षा करना है। वेद और उपनिषद् ही भारत की सांस्कृतिक विरासत हैं तथा वे विश्व-कल्याण करने में सक्षम एवं समर्थ हैं। भारत वैदिक चिन्तन की शाश्वत धारा का आधार लेकर ही राष्ट्र एवं विश्व की प्रसुप्त आध्यात्मिक चेतना का जागरण एवं विकास कर सकता है।

भारत के जनमानस में श्रीराम और श्रीकृष्ण रचे-बसे हैं, किन्तु उनका मूल आधार भी वेद और उपनिषद् हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक धारा सूख गयी है अथवा विलुप्त हो गयी है, किन्तु वास्तव में वह शाश्वत है तथा जनमानस में प्रच्छन्न एवं प्रकट रूप से सदैव जीवित रहती है। वही राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, सामंजस्य और समरसता का सुदृढ आधार है तथा विश्वकल्याण करने में सक्षम है। वास्तव में किसी राष्ट्र के इतिहास का निर्माण राजा और राजनेता नहीं करते, बल्कि श्रेष्ठ महापुरुष तथा विद्वज्जन और सच्चे सन्त-महात्मा करते हैं। श्रेष्ठ महापुरुष अपने चरित्र द्वारा प्रेम, करुणा, त्याग और सेवा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं तथा विद्वज्जन और सन्त-महात्मा मूल चिन्तनधारा को संरक्षित, संपोषित, निरूपित एवं समयानुकूल पुनर्व्याख्यापित करते रहते हैं। वे ही राष्ट्र एवं मानवता के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। भौगोलिक सीमाओं की सुरक्षा तो आवश्यक है ही, किन्तु उससे अधिक आवश्यक सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा होती है।

आधुनिक मानव ने विज्ञान की सहायता से पक्षियों की भाँति आकाश में उड़ना तथा अन्तरिक्ष में दूरबीनों से अन्तरिक्ष में झाँकना तो सीख लिया है, किन्तु उसने न प्रकृति के पृष्ठ में स्थित रहस्यमयी सत्ता को जानना सीखा है और न अपने भीतर प्रवेश करके अन्तर्जगत् के दिव्य सौन्दर्य का संदर्शन करना सीखा है। मानव ने अपने भीतर और बाहर जीवन में शान्ति एवं

आनन्द की स्थापना करना भी नहीं सीखा। उपनिषद् मानव को सृष्टि के सौन्दर्य का साक्षात्कार करने तथा जीवन में शोक, मोह और भय से परे आनन्द की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मनुष्य प्रकृति के दबाव में रहकर भी कर्म करने में स्वतंत्र है तथा वह प्रत्येक विचार एवं कर्म से समाज एवं पर्यावरण को प्रभावित करता रहता है। मनुष्य वैयक्तिक और सामाजिक सुख एवं दु:ख का उत्तरदायी स्वयं ही है।

मनुष्य को अपने भीतर उच्च स्तरों की ओर उठते हुए भी जीवन की समग्रता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए तथा भीतर और बाहर सामंजस्य एवं समरसता स्थापित करने की चेष्टा करते हुए आध्यात्मिक दिशा में प्रगति करते रहना चाहिए। मनुष्य को व्यक्ति एवं समाज के जीवन में प्राणसंचार के लिए उपनिषदों का सहारा लेना ही पड़ेगा।

उपनिषद् मानवमात्र का कल्याण-सम्पादन करने में समर्थ जीवन-विज्ञान हैं। उपनिषद् दिशाहीनता की अँधेरी सुरंग में भटकाव की शिकार यंत्रणाग्रस्त मानवता के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं। भौतिकता के दमघोटू प्रभाव ने मानव को पंगु एवं जड बना दिया है। उपनिषद् मानव-मुक्ति तथा आनन्दानुभूति की दिशा में सार्थक संकेत देते हैं। ऋषि सतत आह्वान एवं उद्बोधन करते हैं—उत्तिष्ठत, जाग्रत—उठो, जागो।

उपनिषदों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती है। वर्तमान काल में लगभग ढाई सौ उपनिषद् उपलब्ध हैं, किन्तु प्रामाणिक प्राय: एक सौ आठ माने जाते हैं। उनमें कुछ प्राचीन और गद्यात्मक हैं। काव्य-शैली में रचित उपनिषद् अपेक्षाकृत कम प्राचीन हैं। सभी उपनिषदों में मूल चिन्तनधारा एक ही है तथा बड़े और छोटे सब उपनिषदों में साम्य है। प्रतिपाद्य वस्तु सर्वत्र एक ही है। प्रमुख उपनिषदों की संख्या ग्यारह कही जाती है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर। शङ्कराचार्य ने इनमें प्रथम दस के भाष्य

किये, यद्यपि उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सोलह उपनिषदों के सन्दर्भ दिये हैं। प्राय: चौदह उपनिषद् प्रचलित हैं।

वेदों पर आधारित छह दर्शनशास्त्र हैं— जैमिनि का मीमांसा (अथवा पूर्वमीमांसा), कणाद का वैशेषिक, गौतम का न्याय, पतंजलि का योग, कपिल का सांख्य और व्यास का वेदान्त (उत्तरमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा)। आत्माविषयक चिन्तन चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य तथा वेदान्त-दर्शन में है, किन्तु वेदान्त को सर्वांगपूर्ण कहा गया है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य वेदान्त ही है। वास्तव में छहों शास्त्र परस्पर पूरक हैं, यद्यपि उनमें वैचारिक भिन्नता है। उपनिषदों के गूढ तत्त्वों का निरूपण एवं वेदान्त का क्रमबद्ध विश्लेषण व्यासरचित ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) में है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। इनमें समस्त वैदिक विचारधारा समाविष्ट है।

ईशावास्य उपनिषद् अनेक कारणों से विशेष महत्त्वपूर्ण है। अन्य सभी उपनिषद् वेदों के साथ जुड़े हुए हैं, किन्तु ईशावास्य उपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय अर्थात् वेद का अङ्ग है। वेद का अङ्ग होने के कारण इसे मंत्रोपनिषद् एवं वेदोपनिषद् भी कहा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद की अनेक शाखाएँ लुप्त हो चुकी हैं। उपलब्ध वाजसनेय तथा काण्वशाखाओं में मंत्रक्रम कुछ भिन्न है। अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित काण्वशाखा के अनुसार ईशावास्य उपनिषद् में अठारह मंत्र हैं।

ईशावास्य उपनिषद् में अन्य सभी उपनिषद् समाविष्ट हैं। उपनिषदों के गणनाक्रम में इसका प्रथम स्थान है। इसका प्रारंभ भी 'ईश' से होता है मानो इसमें ईश्वर-तत्त्व का निरूपण प्रमुख है। यजुर्वेद के उनतालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड की चर्चा होने के पश्चात् चालीसवें अध्याय में ज्ञान का निरूपण है। प्रथम मंत्र के प्रारंभ में 'ईशावास्य' आने से इसे ईशावास्य उपनिषद् कहा जाता है। इसे प्रतिनिधि उपनिषद् कहा जा सकता है। इसके थोड़े से मंत्रों में समस्त उपनिषदों का सन्देश प्रस्तुत कर दिया गया है।

ईशावास्य उपनिषद् तथा भगवद्गीता में अत्यधिक साम्य एवं एकरूपता है। भगवद्गीता को उपनिषद् की मान्यता प्राप्त है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसे (१) भगवद्गीता (२) उपनिषद् (३) ब्रह्मविद्या (४) योगशास्त्र (५) श्रीकृष्णार्जुन-संवाद कहा गया है। काण्वशाखा के अन्तर्गत ईशावास्य उपनिषद् में अठारह मंत्र हैं तथा भगवद्गीता में अठारह अध्याय हैं। दोनों में भगवत्प्राप्ति के साधनों (ज्ञान, कर्म और उपासना) की त्रिवेणी का संगम हुआ है। वास्तव में ज्ञान, कर्म और उपासना की परिणति एक ही है।

ईशावास्य उपनिषद् संक्षिप्त एवं क्लिष्ट है तथा इसके मंत्रों की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। उपनिषदों के कथ्य एवं मन्तव्य को आत्मसात् करने के लिए तथा उनमें गहरी पैठ होने के लिए अपेक्षाकृत अधिक सरल, सरस, स्पष्ट एवं सुरुचिपूर्ण अन्य उपनिषदों (कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् इत्यादि) का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

विविध आचार्यों एवं विद्वानों के उपलब्ध भाष्यों में पर्याप्त मतभेद है तथा उन्हें समन्वय-सेतु से पाटना आवश्यक किन्तु दुष्कर है। अध्येता के लिए पूर्वाग्रह छोड़कर नीर-क्षीर-विवेक से सारतत्त्व का ग्रहण करना ही हितकर एवं उपादेय है।

●

तत्त्वं ते नावगच्छामि कीदृशः परमेश्वरः।
भूत्वोऽहंशरणापन्नः प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
दिव्यामृतसमारम्भे प्रार्थये त्वां महेश्वर।
सङ्कल्पसिद्धिंयच्छत्वंस्थित्वा हृत्कमलेमम॥
शङ्करः शङ्कराचार्यः सर्वस्य जगतो गुरुः ।
अर्चितः शिवानन्देन निर्विघ्नं भाष्यपूर्तये॥
ब्रह्मविद्या पराविद्या ब्रह्मात्मैक्यनिरूपिका।
अद्वैतस्थापनार्थं च ज्येष्ठा श्रेष्ठा वरीयसी॥

—शिवानन्द

ईशावास्य उपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

शब्दार्थ : ॐ सच्चिदानन्द परमात्मा का वाचक है। ॐ पूर्णत्व का सूचक है। अदः पूर्णम् = वह (परब्रह्म परमात्मा) सब प्रकार से पूर्ण है; इदं पूर्णम् = यह (जगत्) पूर्ण है; पूर्णात् पूर्णं उदच्यते = पूर्ण ब्रह्म से यह (जगत्) प्रकट हुआ है; पूर्णस्य पूर्णं आदाय = पूर्ण (ब्रह्म) के पूर्ण (जगत्) को निकाल देने पर; पूर्ण एव अवशिष्यते = पूर्ण ही शेष रहता है। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

वचनामृत : वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण प्रकट होता है। पूर्ण के पूर्ण को निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है।

सन्दर्भ : यह मंत्र मंगलाचरण है। यह बृहदारण्यक उपनिषद् के पञ्चम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका का पूर्वार्द्ध है। ईशावास्य

उपनिषद् के प्रारंभ में इस मंत्र से परमात्मा की पूर्णता एवं सर्वव्यापकता की प्रतिष्ठा की गयी है।

दिव्यामृत : परब्रह्म परमात्मा पूर्ण है। उससे प्रकट होनेवाला यह जगत् भी पूर्ण है। उस अदृश्य, अव्यक्त एवं परोक्ष पूर्ण परमात्मा से प्रकट होनेवाला यह दृश्यमान, व्यक्त एवं प्रत्यक्ष जगत् भी पूर्ण है। परमात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है। यह जगत् इन्द्रिय, मन और बुद्धि का विषय है। यह जगत् दैवी चेतना का विस्तार अथवा विराट् रूप है। दैवी चेतना एक सूक्ष्म प्रकाश है। एक दीप से अगणित अन्य दीप समान रूप से प्रज्वलित हो जाते हैं, किन्तु उसके प्रकाश में न्यूनता नहीं आती। प्रकाशतत्त्व एक ही है। सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा तथा उससे प्रकट जगत् तात्त्विक दृष्टि से सूक्ष्म स्तर पर एक ही है। सर्वत्र पूर्णता है। सर्वत्र एक ही अखण्ड सत्ता व्याप्त है। सर्वत्र अखण्ड सत्, अखण्ड चित्, अखण्ड आनन्द व्याप्त है। तात्त्विक दृष्टि से परब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी अन्य नहीं है। परब्रह्म परमात्मा एकमात्र सत्, शाश्वत एवं नित्य है। तात्त्विक अथवा सूक्ष्म पारमार्थिक दृष्टि से यह जगत् मात्र एक मिथ्या स्वप्न है अर्थात् उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जगत् का आश्रय परमात्मा है। दृश्यमान जगत् के पूर्णत्व को समेट लेने पर ब्रह्म ही शेष रहता है। जगत् में नाम और रूप के आधार पर प्रतीत होनेवाले नानात्व (भिन्नत्व) के ज्ञान द्वारा बाधित होने पर सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रहता है। सर्वत्र सब कुछ अविच्छिन्न पूर्ण ब्रह्म ही है। नानारूपात्मक जगत् असत् है तथा उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उसके बढ़ने या घटने से कुछ अन्तर नहीं होता।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि के स्तर पर जगत् की व्यावहारिक सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक (तात्त्विक एवं व्यतिरेक) दृष्टि से वह असत् एवं मिथ्या है। सत् तो सर्वत्र परमात्मा ही है। वह अद्वैत है अर्थात् अन्य दूसरा कुछ भी सत् अथवा नित्य नहीं है।

जगत् असत् अर्थात् विनश्वर एवं अस्थायी है। इन्द्रिय-स्तर पर सब

कुछ परिवर्तनशील, क्षणभंगुर अथवा असत् है। निरन्तर प्रवहमान[१] होने के कारण जगत् (सृष्टि) को भी अनादि एवं सत् कह दिया जाता है, किन्तु अनादि का अर्थ नित्य नहीं है। सत् एवं नित्य केवल अविनाशी, एकरस परमात्मा ही है। ब्रह्म (एकमात्र बड़ा) जगत् का आधार एवं आश्रय है। जगत् निराधार, निरावलम्ब एवं स्वतन्त्र नहीं है। जगत् का आधार एवं आश्रय जगत् में व्याप्त परब्रह्म परमात्मा है।

जब यह जगत् पूर्ण ब्रह्म की पूर्णता को लेकर पूर्ण ब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् अव्यक्तावस्था में चला जाता है, तब पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। जगत् के लीन होने पर शून्य कदापि नहीं होता।[२] पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की अखण्ड सत्ता सदैव अविच्छिन्न रहती है।

रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है, किन्तु भ्रम दूर होने पर रज्जु का अस्तित्व तो रहता ही है। यदि स्वर्णाभूषणों के नाम और रूप हटा दें तो उनके नानात्व (भिन्नत्व) के दूर होने पर भी स्वर्ण का अस्तित्व शेष रह जाता है। यदि नामरूपात्मक तरङ्गें हटा दें तो समुद्र तो शेष रहता ही है। संसार को मिथ्या (नश्वर, अनित्य, असत्) कह देने पर भी उसका आश्रय परब्रह्म तो सदैव अखण्ड रूप से सत् रहता ही है। सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म में विवर्त (मात्र आरोपित अथवा मात्र प्रतीति) कहने पर भी पूर्ण ब्रह्म तो सदैव सत् (अस्तित्ववान्) रहता है। सृष्टि को आदि-अन्त रहित तथा मात्र माया का प्रपंच कहने पर भी परमात्मा की सत्ता सदैव रहती है। शून्य कदापि नहीं होता, ब्रह्म सदैव सत् (अस्तित्ववान्) रहता है। वेद के 'नेति नेति' कहने

---

१. निरन्तर प्रवहमान (Constant flux)

२. संसार के संबंध में बौद्धदर्शन में 'सर्वं क्षणिकम्, सर्वंशून्यम्, सर्वं दुःखम्' कहा गया है अर्थात् सब कुछ क्षणिक है, सब कुछ शून्य है, सब कुछ दुःखरूप है। किन्तु शून्य की सत्ता नहीं होती। शून्य का आधार क्या होता है? शून्य को स्वीकार करने पर उसका द्रष्टा कौन है? उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि शून्य कभी नहीं होता। परब्रह्म परमात्मा का अस्तित्व सदैव अविच्छिन्न रहता है।

पर परमात्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं हो जाता, बल्कि उसकी अनन्तता का ही प्रतिपादन होता है। परमात्मा की इयत्ता (सीमा, मात्र यहाँ तक) का निषेध है, परमात्मा के अस्तित्व का नहीं।

परमात्मा चैतन्यस्वरूप है तथा उसका चिदंश (चैतन्य का अंश) प्राणी के भीतर संस्थित होकर उसके जीवन और सम्पूर्ण गतिविधि का आधार होता है। चित् (चैतन्य) और चिदंश (चैतन्यांश) मूलतः एक ही हैं। दोनों पूर्ण हैं। सिन्धु और बिन्दु दोनों पूर्ण हैं। सर्वत्र पूर्णता है।

मनुष्य के जीवन का स्रोत चिदंश उसके भीतर ही आत्मा के नाम से कहा जाता है। वही मनुष्य का निज दिव्य स्वरूप है। ब्रह्मात्मैक्य अर्थात् विश्वचैतन्य और आत्मचैतन्य की एकता की अनुभूति होने पर मनुष्य को अपने भीतर ही पूर्णता की भी अनुभूति हो जाती है तथा भीतर-बाहर सर्वत्र चिन्मय तत्त्व का दर्शन होने लगता है। सर्वत्र चैतन्यसत्ता की सर्वव्यापकता का अनुभव होने पर हमारे क्षुद्र 'अहं' का विराट् रूप सर्वत्र दीखने लगता है। भीतर की अनुभूति होने पर अहं, जगत् और जगदीश्वर की एकता सिद्ध हो जाती है तथा दुःखरूप कहा जानेवाला संसार सुन्दर और आनन्दमय हो जाता है। मनुष्य में समत्व और शान्ति सुदृढ हो जाते हैं।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। यह सृष्टि पूर्ण है। यह मानो परमात्मा का सुन्दर काव्य है, जो न कभी मृत्यु को प्राप्त होता है और न जर्जर होता है। मनुष्य को अपने भीतर पूर्णता एवं सौन्दर्य की अनुभूति होने पर सर्वत्र दिव्य सौन्दर्य का दर्शन हो जाता है। यह दृश्यमान जगत् सर्वकाल में रसमय ब्रह्म ही है तथा तत्त्वदृष्टि से उसके अतिरिक्त अन्यत् कुछ भी नहीं है। सच्चिदानन्द ब्रह्म में संस्थित होने पर, ब्रह्मात्मैक्य (ब्रह्म और आत्मा की एकता) की अनुभूति होने पर दृश्यमान जगत् विलुप्त हो जाता है तथा सर्वत्र आनन्द की परिव्याप्ति का अनुभव हो जाता है।

चित्त-शुद्धि होने पर सम्पूर्ण सृष्टि चैतन्यसत्ता का स्फुरण अथवा चिद्विलास दीखने लगती है। सर्वत्र सदा ब्रह्म की अविच्छिन्न पूर्णता है,

जो न बढ़ती है, न घटती है। भारतीय मनीषियों ने जीवन में भी एकांगिता को स्वीकार नहीं किया तथा जीवन में समग्रता एवं पूर्णता को मान्य किया।

अपने भीतर सत्यं शिवं सुन्दरम् की अनुभूति होने पर सौन्दर्यनिधान परब्रह्म परमात्मा के दिव्य सौन्दर्य का सर्वत्र सर्वदा संदर्शन करना जीवन की कृतार्थता है।

मनुष्य अपनी अपूर्णता के कारण दूसरों में केवल अपूर्णता का ही दर्शन करके स्वयं उद्विग्न और अशान्त रहता है। मनुष्य अपने भीतर पूर्णता की ओर बढ़ते हुए ही स्वयं शान्त और सम रह सकता है तथा दूसरों को समता और शान्ति की प्रेरणा दे सकता है।

प्रार्थना : हे परमात्मन्, ऐसी कृपा कीजिये कि मैं चेतना एवं चिन्तनधारा के ऊर्ध्वीकरण एवं दिव्यीकरण द्वारा अपने भीतर ही दिव्य ज्योति का साक्षात्कार कर सकूँ तथा पूर्णता की आनन्दानुभूति करके कृतकृत्य हो सकूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ ब्रह्म का वाचक एवं पूर्णता का द्योतक है। तीन बार 'शान्ति' का उच्चारण करने का तात्पर्य त्रिविध ताप की शान्ति एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना है।

आध्यात्मिक (अपने भीतर मन से प्राप्त दुःखों की) शान्ति

आधिभौतिक (दुष्टजन और हिंसक प्राणियों से तथा दुर्घटना आदि से प्राप्त दुःखों की) शान्ति

आधिदैविक (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात, अग्नि आदि प्राकृतिक प्रकोपों से प्राप्त दुःखों की) शान्ति

मनुष्य ब्रह्मज्ञान से परम शान्ति प्राप्त करता है। **ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति** (कठ० उप० ४.१४)

शान्तिमन्त्र—ॐ शरणं त्रिविधतापहरणं ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—शिवानन्द

आनन्दप्राप्ति के लिए कुछ मननीय बिन्दु'

- चेतना के विकास एवं ऊर्ध्वीकरण द्वारा अपने भीतर परब्रह्म की दिव्यानुभूति तथा आनन्दावस्था को प्राप्त करना मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि एवं कृतार्थता है।

- चिन्तन द्वारा अपने विचारों को देखते और परखते हुए अपनी जीवनशैली में सुधार करते रहना सजगता है। मनुष्य स्वयं को सुधारकर ही दूसरों को सुधरने की प्रेरणा दे सकता है।

- अतीत के सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, जय-पराजय तथा उत्कर्ष-अपकर्ष को मात्र स्वप्न समझकर, उत्तम दिशा में साहसपूर्वक आगे बढ़ते रहना विवेक है। वर्तमान को सुधार लेने से भविष्य स्वयं सुधर जायगा।

- भौतिक सुखभोग की आसक्ति एवं इच्छाओं से ऊपर उठते हुए चिन्ता, भय और क्रोध तथा घृणा, द्वेष और वैरभाव का परित्याग करने से अहंकार का शोधन हो जाता है।

- मन को स्वच्छ, सम और शान्त रखने से आत्मबल की वृद्धि हो जाती है।

- दूसरों के साथ संवेदनशील, प्रेमपूर्ण एवं सहिष्णु होकर व्यवहार करने और सुन्दर वाणी बोलने से परिवार और परिवेश में समरसता स्थापित हो जाती है। दूसरों को सदा दोष देते रहने से परस्पर दूरी बढ़ जाती है तथा मनुष्य अकेला पड़कर दुःखी हो जाता है।

- व्यक्तिगत जीवन में संयम, संतोष और सादगी अपनाने से शान्ति की स्थापना हो जाती है तथा मर्यादा-पालन करने से अनेक दोषों और संकटों से बचना संभव हो जाता है।

- प्रार्थना को कर्मक्षेत्र में कर्तव्य-पालन एवं पुरुषार्थ से जोड़ देना मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख कर देता है।

- समय, धन और शक्ति का सदुपयोग करना उनकी सार्थकता है। मिथ्या प्रदर्शन और मिथ्या व्यवहार मनुष्य को भटका देते हैं।

- ध्यान का यथासंभव अभ्यास करना मन और बुद्धि को आनन्दाभिमुख कर देता है। अखण्ड आनन्द और अनन्त शक्ति का स्रोत अपने भीतर ही है। विश्व की दिव्य सत्ता का साक्षात्कार अथवा आत्मसाक्षात्कार अपने भीतर ही होता है।

—आचार्य शिवानन्द
विजय नगर,
मेरठ-२५०००१

ईशावास्य उपनिषद्
मन्त्र १

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥ १ ॥

शब्दार्थ : जगत्यां = सम्पूर्ण विश्व में, सम्पूर्ण सृष्टि में, अखिल ब्रह्माण्ड में, कार्यरूपा प्रकृति में, गतिशील पाञ्चभौतिक सृष्टिरचना में; यत्किंच = जो कुछ भी; जगत् = (अतिशयेन, पौनःपुन्येन यद् गच्छति) निरन्तर गतिमान् होने के कारण जगत्, चेतन और जड, चर और अचर, नाम और रूपवाला परिवर्तनशील जगत् है; इदं सर्वं = यह सब; ईशा = ईश्वर से, चैतन्यसत्ता से; वास्यम् = व्याप्त (है), अथवा ईश का आवास्य (है); तेन = इसी कारण से, अतएव (अथवा, ईश्वर को साथ में रखते हुए); त्यक्तेन = त्यागपूर्वक (आसक्ति एवं ममत्व का त्याग करके, अथवा, जगत् से चित्त को हटाकर); भुञ्जीथाः (पदार्थों का) भोग करो (अथवा, चित्त से जगत् को हटाकर परमात्मा की दिव्यता का आनन्द लो, नामरूपात्मक जगत् का मोह छोड़कर कूटस्थ परमात्मा के आनन्द का भोग करो); मा गृधः = लोभ मत करो, भोगों की लालसा मत करो; धनं कस्यस्वित् = धन किसका है? अर्थात् धन अनित्य एवं अस्थिर है तथा किसीका नहीं है; अथवा, मा गृधः कस्यस्वित् धनम् = किसीके धन पर लोभ-दृष्टि मत करो।

वचनामृत : अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप (चराचर) है, यह सब ईश्वर से व्याप्त (अथवा आच्छादित) है। अतएव त्यागपूर्वक (आसक्ति एवं ममत्व का त्याग करते हुए) भोग (पदार्थों का भोग) करो। लोभ मत करो। धन किसका है? (धन पर किसीका स्वामित्व नहीं है।) अथवा, किसीके धन पर लोभ-दृष्टि मत करो।

सन्दर्भ : 'ईशावास्य' अथवा 'ईशावास्यमिदम्' में न केवल सम्पूर्ण मंत्र, बल्कि सम्पूर्ण ईशावास्य उपनिषद् समाविष्ट है। इस मंत्र में सम्पूर्ण भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के बीज सन्निहित हैं। त्यागपूर्वक भोग

करना अथवा त्याग और भोग का समन्वय करना आध्यात्मिक जीवन का सारसर्वस्व है।

दिव्यामृत : अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी चराचरात्मक है, वह सब ईश्वर से अभिव्याप्त एवं अनुप्राणित है। सम्पूर्ण सृष्टि पञ्चभूतों से विनिर्मित एक विलक्षण रचना है। इस सृष्टि में जो कुछ भी यह दृश्यमान जगत् है अर्थात् जो कुछ भी चेतन और जड अथवा चर और अचर है, वह गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील है तथा विनश्वर है। वास्तव में, यह सम्पूर्ण, 'इदं सर्वम्', यह सब कुछ जो चलायमान, परिवर्तनशील, पाञ्चभौतिक एवं विनाशशील जगत् है, वह इसकी आधारभूत एक चैतन्यसत्ता से व्याप्त है।

समस्त सृष्टि ईश्वर में सन्निहित है तथा ईश्वरमय है। 'ईश' का अर्थ है अनन्त ऐश्वर्य एवं अनन्त शक्ति से संपन्न जगदीश्वर। ईश्वर सर्वव्यापक एवं सर्वनियन्ता है। इस जगत् का कारणभूत ईश्वर अपने कार्यरूप जगत् में समाया हुआ है। कारण और कार्य की मूलभूत एकता होने से जगदीश और जगत् एक ही हैं। स्रष्टा ईश्वर स्वयं सृष्टि बन गया तथा व्याप्त होकर उसका आधार हो गया। यह सृष्टि मानो ईश्वर का विराट् रूप है। यह 'पूर्णमदः' परमेश्वर ही 'पूर्णमिदम्' जगत् हो गया। अव्यक्त पूर्ण चेतना से उद्भूत (विनिर्गत) यह व्यक्त जगत् भी पूर्ण है। तत्त्वतः यह ईश्वरमय है।[1]

---

१. भगवद्गीता में '**इदं सर्वम्**' (यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है) की चर्चा अनेक प्रकार से की गयी है।
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् (गीता २.१७)—उसे अविनाशी समझो, जिससे यह सब कुछ व्याप्त है।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना (गीता ९.४)—परमात्मा से यह सब जगत् परिपूर्ण है।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् (गीता १०.३९)—वह चर और अचर कुछ भी नहीं है, जो परमात्मा से रहित हो।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् (गीता १८.४६)—परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई, उससे यह सब व्याप्त है।

सम्पूर्ण अस्तित्व एक ही है तथा एक ही ईश्वर उसका आधार है। सब विशेषों में एक ही सामान्य निर्विशेष सत्ता समाहित एवं अनुस्यूत है। वह सम्पूर्ण सृष्टि में ओतप्रोत है।[1] एक ही दिव्य सत्ता सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण एवं आधार है।[2] सृष्टि का प्रादुर्भाव ईश्वर से होता है तथा उसीमें वह विलीन होती है। ईश्वर सृष्टि को अपने में समाये हुए है तथा सर्वत्र व्याप्ति के कारण वही एक सत् है। अनन्तशक्तिसंपन्न ईश्वर अनन्तकरुणामय है। ईश्वर प्राजापत्यभाव से जगत् का पोषण करता है।[3] ईश्वर अकेला ही ईशन (परिपालन एवं संरक्षण) करता है।[4]

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम् (श्वेत० उप० ६.२)— परमेश्वर से यह सब सदा व्याप्त है।

ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भविष्यत् (मु० उप० १)— ॐ अक्षर है। यह अविनाशी परमात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् उसकी महिमा को प्रतिष्ठित करता है।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च, उपास्थाय प्रथमजागृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश (यजुर्वेद ३२.११)— जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा सब लोकों में व्याप्त है, जो पूर्वादि दिशाओं और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर परिपूर्ण है, जिसकी सर्वव्यापकता अणुमात्र में भी है, जो अपनी शक्ति का भी आत्मा (प्रथमजा) है और जो सृष्टि का उत्पन्नकर्ता है, उस परमेश्वर को जो अपने सामर्थ्य से यथावत् जानता है, वह उसे प्राप्त (अभि) होने पर परमानन्द को भोगता है।

१. **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव** (गीता ७.७)— परमात्मा में यह सब मणियों की भाँति पिरोया हुआ है।

स ओतःप्रोतश्च विभूः प्रजासु (यजुर्वेद ३२.८)—वह व्यापक परमात्मा सर्वत्र ओतप्रोत है।

२. **तत् कारणं** (श्वेत० उप० ६.१३)— वह सबका कारण है।

३. **संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः** (श्वेत० उप० १.८०)— व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप इस विश्व का ईश्वर ही धारण और पोषण करता है।

४. **स एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वान् लोकानीशत ईशनीभिः** (श्वेत०

यह जगत् घटनाओं का अनवरत एवं अव्याहत प्रवाह है, जो नियमों द्वारा व्यवस्थित है। घटनाओं की शृंखला ही इस प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखती है। एक घटना दूसरी घटना को जन्म दे देती है और एक सातत्य (निरन्तरता) बना रहता है। धाराप्रवाह के सातत्य के कारण जगत् नित्य प्रतीत होता है, यद्यपि उत्पत्ति एवं विनाश के कारण यह अनित्य ही है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जगत् में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, किन्तु जगत् के परिवर्तन एवं जगच्चक्र का प्रवर्तन कौन करता है? इस प्रवाह के मूल में अथवा इसके पृष्ठ में क्या प्रेरक तत्त्व है? वास्तव में एक अनिर्वचनीय रहस्यमयी चैतन्यसत्ता इस जगत् को प्रवहमान एवं गतिमान बनाये रखती है। वह जगत् में अनुप्रविष्ट है, इसके अणु-अणु में प्रविष्ट है अथवा व्याप्त है। जगत्प्रवाह एक चैतन्यसत्ता से अनुप्राणित है। अस्थिर वस्तु का एक स्थिर आधार होता है। निरन्तर परिवर्तनशील जगत् का आधार कूटस्थ परमात्मा है।

सृष्टि का मूलकारण ईश्वर ही है। प्रकृति, परमाणु, पञ्चतत्त्व, काल और स्वभाव ईश्वर के अधीन हैं। सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर के मात्र संकल्प से हुई। ईश्वर ने ईक्षण किया और सृष्टि का प्रादुर्भाव प्रारम्भ हो गया तथा वह इसमें प्रविष्ट होकर व्याप्त हो गया।[१] सर्वशक्तिमान ईश्वर में ज्ञानशक्ति तथा

उप० ३.१)— वह एक ही जगत्‌रूप जाल की रचना करके अपनी शासनशक्तियों से उस पर शासन करता है।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः (श्वेत० उप० ३.२०) — वह जो अपनी शासनशक्तियों द्वारा इन लोकों पर शासन करता है, अकेला ही है। उसने किसी अन्य का सहयोग नहीं लिया।

एकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य उप० ६.२.१)— वह एक है, वह अद्वितीय है। **नित्यो नित्यानाम्** (श्वेत० उप० ६.१३)— वही एक नित्यों का भी नित्य है, अन्य कुछ भी नित्य नहीं है।

१. **स ईक्षत** (ऐतरेय उप० १.३.११)— उसने इच्छा की, संकल्प किया।
सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च

क्रियाशक्ति सन्निहित होती है। ईश्वर के संकल्प से अव्याकृत प्रकृति में विश्वबीज का वपन हो गया तथा प्रकृति सृष्टि के रूप में व्याकृत (प्रकट) हो गयी। बीज में ही वृक्ष के मूल, शाखा, पुष्प, फल इत्यादि अन्तर्निहित होते हैं, जो कालान्तर में प्रकट हो जाते हैं। ईश्वर में ही अव्याकृत प्रकृति एवं सूक्ष्म विश्व-बीज विद्यमान थे।[1]

इस जगत् में मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, वन, सागर, नदी, नद, वनस्पति, औषधि, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, जीव-जन्तु, मानव—इस सबका कारण एक ईश्वर ही है।[2] इस सबका सन्तुलन रहने पर ही विकास संभव होता है।

ईश्वर ही मनुष्य को संकल्पशक्ति प्रदान करता है। मनुष्य वही होता है, जैसा उसका संकल्प होता है।[3] वास्तव में पुरुष जैसा संकल्प करता

त्यच्चाभवत् (तै० उप० २.६)— एक से अनेक होने के लिए ईश्वर ने तप किया अर्थात् संकल्प का विस्तार किया तथा इस सबको जो भी कुछ है उत्पन्न किया और इसके अणु-अणु में व्याप्त हो गया। वह स्वयं ही मूर्त और अमूर्त हो गया।
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं (कठोप० १.२.१२)— यह दुर्गम जगत् ईश्वर से व्याप्त है।
यो विश्वं भुवनमाविवेश (श्वेत० उप० २.१७)— जो समस्त लोकों में (सर्वत्र) प्रविष्ट हो गया।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना (गीता ९.४) — ईश्वर इस जगत् में अव्यक्तमूर्ति है।

१. **यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् आचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** (छा० उप० ६.१.४)— हे सोम्य, जैसे एक मिट्टी के पिण्ड को जानने से यह ज्ञात हो जाता है कि सब पात्र मिट्टी ही हैं, सब विकार शब्दों के आधार पर केवल नाम हैं और मिट्टी ही सत्य है।
२. **जन्माद्यस्य यतः** (ब्रह्मसूत्र १.२)— जिससे सृष्टि का जन्म आदि होते हैं। **स विश्वकृत्** (श्वेत० उप० ६.१६)— वह सर्वस्रष्टा है।
३. **श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः** (गीता १७.३)— मनुष्य में जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।

है, वैसा ही हो जाता है। पुरुष क्रतुमय होता है।[१] जब पुरुष का संकल्प शिवसंकल्प (दैवी संकल्प) हो जाता है, वह अवश्य पूर्ण होता है।[२]

ईश्वर स्वयं ही सृष्टि का नियम है और नियामक है। ईश्वर एक व्यवस्था है तथा व्यवस्थापक भी है। संसार में कुछ भी घटना मात्र संयोग से नहीं होती। यदि सब कुछ मात्र संयोग ही हो तो नियम और व्यवस्था संभव नहीं हो सकते। जिस प्रकार धूम्र से अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नियमयुक्त व्यवस्था से उसके पृष्ठ में स्थित एक चैतन्यसत्ता का अनुमान होता है। ऋषियों ने उस चैतन्यसत्ता का न केवल अनुमान ही किया, बल्कि अपने भीतर उसकी दिव्यानुभूति भी की तथा मंत्रों के माध्यम से अपने उद्‌गार भी प्रकट किये। आन्तरिक अनुभूति ही दिव्य अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण होता है।

प्रत्येक रचना के पृष्ठ में एक कारण और एक कर्ता होता है। जहाँ कार्य होता है, वहाँ कर्ता भी होता है। जहाँ घट है वहाँ कुम्भकार निमित्तकारण और मिट्टी उपादानकारण भी होता है।[३] जहाँ चित्र है, वहाँ चित्रकार तथा

१. **क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति** (छान्दोग्यउप० ३.१४.१)—पुरुष क्रतुमय होता है, जैसा क्रतु (संकल्प, श्रद्धा), वैसा ही पुरुष होता है।

२. **दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** (यजुर्वेद ३४.१)—मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

३. **जगतां यदि नो कर्ता कुलालेन विना घटः चित्रकारं विना चित्रं स्वयमेव भवेदिह॥** —यदि जगत् का कर्ता न हो तो कुम्भकार के बिना घट, चित्रकार के बिना चित्र स्वयं ही बन जाय।

रिचर्ड स्विनबर्न (Richard Swinburne) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Is there a God' में विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है कि ईश्वर की चैतन्यसत्ता वस्तुओं (जैसे इलेक्ट्रान, गुलाब, ताम्र इत्यादि) के गुणधर्मों को सुविचारित व्यवस्था से निरन्तर संधारित रखती है तथा उन्हें नियन्त्रण द्वारा अनियमित व्यवहार करने से रोकती है। हेनरिक हीने (Henrich Heine) ने एक व्यावहारिक तथ्य कहा कि मानव-जीवन में इतना अधिक संत्रास है कि आस्था के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकते। किन्तु भारतीय ऋषियों ने गहन चिन्तन एवं अनुभूति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया। अनेक प्रख्यात वैज्ञानिकों (आइंस्टीन, प्रो०

कुछ साधन भी हैं। कुम्भ की रचना में कुम्भकार निमित्तकारण और मिट्टी उपादानकारण है, किन्तु सृष्टि की रचना में ईश्वर निमित्तकारण तथा उपादानकारण दोनों ही है। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं से उत्पन्न तन्तुजाल से स्वयं को आच्छादित कर लेती है और उसमें स्वयं को छिपाकर रहती है, उसी प्रकार परमेश्वर ने अपनी मायाशक्ति से प्रकट कार्य (जगत्) में व्याप्त होकर तथा उसे आच्छादित करके स्वयं को भी तिरोहित कर दिया। ईश्वर ही सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त है। वह पुष्प में सुगंधि की भाँति सृष्टि में व्याप्त है।

सम्पूर्ण सृष्टि एक दिव्य सत्ता का चिद्विलास है। सृष्टि के मूल में अथवा पृष्ठ में एक रहस्यमयी चैतन्यसत्ता के अस्तित्व को विचार एवं अनुभव के आधार पर स्वीकार करना भी एक उपलब्धि है तथा आध्यात्मिक जीवन का प्रथम सोपान है।[१] निश्चय ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म चैतन्यसत्ता को चर्मचक्षुओं

फ्लैमिंग, डॉ० मूर इत्यादि) ने परमसत्ता के अस्तित्व की चर्चा की है।

"This firm belief, a belief bound up with a deep feeling, in a superior mind that reveals itself in a world of experience represents my conception of God" —Albert Einstein.

"Too many people got a microscopic idea of the Creator. If they would only study His wonderful works as shown in Nature herself and the Natural laws of the Universe, they would have a much broader idea of the Great Engineer. Indeed I can almost prove His existence by Chemistry." —Thomas Edison (Is modern intelligence outgrowing God ?)

"I myself believe that the evidence for God lies primarily in inner personal experiences" —William James

Sir James Jeans, Max Planck, Eddington इत्यादि अनेक वैज्ञानिक सृष्टि के पृष्ठ में एक परम बुद्धि का अनुमान करते हैं।

१. **अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वभावेन चोभयोः** (कठोप०२.३.१३)— पहले तो 'वह अवश्य है', यह निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् उसे तत्त्वभाव (ज्ञानार्जन) से प्राप्त करना चाहिए।

से देखना तथा वाणी से वर्णन करना संभव नहीं है।[1] दिव्यानुभूति होने पर वाणी मूक हो जाती है तथा रोम-रोम में आनन्द परिव्याप्त हो जाता है। इसका वर्णन करना संभव नहीं है।

जगत् का स्रष्टा एक ही है, यद्यपि विद्वान् उसका वर्णन अनेक प्रकार से करते हैं।[2] वेदों तथा उपनिषदों ने पुनः-पुनः उद्घोष किया है कि परम सत्ता एक ही है। देवता उस एक ही चैतन्यसत्ता के विविध पक्ष हैं अथवा उसकी विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं तथा उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परमात्मा अचिन्त्य तथा मन, बुद्धि और इन्द्रियों के लिए अग्राह्य है, यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से उसकी अनुभूति होना अवश्य संभव है। उपनिषदों का उद्देश्य मात्र चर्चा करना नहीं है, बल्कि आन्तरिक अनुभूति को प्रतिष्ठित करना है। ब्रह्मात्मैक्य की दिव्यानुभूति ही उपनिषदों का साध्य एवं प्रतिपाद्य है।

एक ही चैतन्यसत्ता का दार्शनिक दृष्टि से अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। परमात्मा में निगूढ[3], प्रच्छन्न एवं अन्तर्निहित मायाशक्ति रहस्यमयी

---

१. **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा अस्तीति** (कठोप० २.३.१२)— न तो वह वाणी से, न मन से, न नेत्रों से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है ,किन्तु फिर भी वह अवश्य है।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (तै० उप० २.९)— मनसहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे ग्रहण न करके लौट आती हैं।
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी, मत हमार अस सुनहु सयानी।
—भक्त-शिरोमणि रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि भौंरा तब तक ही शब्द करता है, जब तक वह पुष्प का रसपान नहीं करता तथा मधुपान करने पर उसका गुंजन समाप्त हो जाता है। कबीर और मीरा ने यह अमृतपान किया था।

२. **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋग्वेद १.१६४.४६)— एक ही परमात्मा का अनेक प्रकार से कथन एवं वर्णन होता है। अनेक उपनिषदों में ऐसे मंत्र हैं, जो घोषित करते हैं कि परमेश्वर एक ही है। श्वेत० उप० ३.१, ३.२, ३.३, ३.७, ३.९, ४.१, ५.२, ५.४, ५.१३। कठोप० २.९, २.१०, २.११, २.१२, २.१३ इत्यादि।

३. **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** (कठोप० १.३) —ऋषियों ने ध्यान में स्थित होकर परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति का साक्षात् अनुभव किया।

एवं अनिर्वचनीया है तथा वह साधारण नियमों से बद्ध नहीं है। माया को अविद्या, अज्ञान तथा तम कहा जाता है। वह मात्र एक आवरण है, जो चैतन्यस्वरूप आत्मा को मानो तम से ढाँप लेता है तथा निराकार, निरवयव एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होने लगती है। तात्त्विक दृष्टि से यह जगत् माया से उत्पन्न है तथा अनेकरूपिणी मायाशक्ति के द्वारा एक ही ब्रह्म में नामरूपात्मक (नाम और रूप से युक्त) विभिन्नता दीखती है।[१]

ब्रह्म उपाधिरहित है, विशुद्ध चैतन्य है। चेतना ही जगत् का और जीवों का एकमात्र आधार है। मायाविशिष्ट (मायोपाधियुक्त) ब्रह्म को ईश्वर (जगदीश्वर, सर्वेश्वर, परमेश्वर, महेश्वर) कहा जाता है तथा ईश्वर को ही सृष्टि-रचना का कारण कहा जाता है। माया के दो रूप कहे जाते हैं—विद्या, जो निर्मल है तथा अविद्या, जो मलिन है। निर्मल विद्या ऊपर उठाती है तथा मलिन अविद्या अधोपतन करती है। अपने भीतर स्थित परमात्मा से जुड़ जाने पर माया सहायक होकर ऊपर की ओर ले जाती है तथा संसार से जुड़ने पर वह पतनकारिणी हो जाती है। ईश्वर को विद्याविशिष्ट एवं सर्वज्ञ कहा जाता है, मनुष्य के जीवात्मा (मायाबद्ध आत्मा, अज्ञानतिमिर से आवृत आत्मा) को अविद्याविशिष्ट एवं अल्पज्ञ कहा जाता है। ये दोनों भेद मायाकृत हैं, वास्तविक नहीं हैं। जीवात्मा ईश्वर का अंश है तथा वास्तव में अभेद है।[२] वास्तव में ज्ञान होने पर ईश्वर और जीवात्मा का मानो लोप

---

१. एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य) (२.१.२४)—एक ही ब्रह्म की विविध रूपोंवाली शक्ति के कारण दुग्ध के समान विचित्र परिणाम (सृष्टि में विभिन्नता के रूप में) दिखाई देता है।

नेह नानास्ति किंचन (कठोप० २.१.११)— इस जगत् में नाना भिन्न रूप वास्तव में कुछ नहीं हैं अर्थात् मात्र प्रतीति अथवा मिथ्या हैं। केवल एक परमात्मा ही सत् है।

२. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (गीता १५.७)— जीवात्मा ईश्वर का अंश है।

हो जाता है तथा केवल एक सच्चिदानन्द (सत्, चित् और आनन्द) ब्रह्म ही प्रतिष्ठित हो जाता है। ईश्वर और जीव से भी परे एकमात्र विशुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। ज्ञानी को नामरूपात्मक जगत् के पृष्ठ में चिन्मात्र ब्रह्म का ही दर्शन होता है।

विश्व का आत्यन्तिक सत्य (अन्तिम सत् तत्त्व, शाश्वत एवं नित्य तत्त्व) ब्रह्म है तथा तत्त्वदृष्टि से यह सब (इदं सर्वम्) भी ब्रह्म है। जगत् नश्वर होने के कारण स्वप्नवत् मिथ्या है। ब्रह्म अव्यक्त होकर भी जगत् के रूप में व्यक्त है।[१] विश्व को सब ओर से व्याप्त एवं आवृत करनेवाला ब्रह्म ही है।

सम्पूर्ण जीवन भी एक ही अखण्डतत्त्व है तथा वह ब्रह्म का स्फुरण अथवा ब्रह्म का ही रूप है।[२] जीवन का सारभूत तत्त्व एवं लक्षण चेतना होती है।

सम्पूर्ण प्राणियों की समष्टि चेतना अपने विशुद्ध रूप में परब्रह्म परमात्मा ही है। परमात्मा चित्स्वरूप (चैतन्यस्वरूप) है तथा सम्पूर्ण चेतना

अंशो नानाव्यपदेशात् (ब्रह्मसूत्र २.३.४३)— जीव ईश्वर का अंश है।
ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

१. **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छान्दोग्य उप० ३.१४.१)— सब कुछ ब्रह्म ही है।
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् (मुण्डक उप० २.२.११)— सम्पूर्ण जगत् वास्तव में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् (श्वेत० उप० ४.१४, ४.१६, ५.१३)— विश्व को व्याप्त करनेवाला एक ब्रह्म ही है।
सत्यमेकं परब्रह्म—एक परब्रह्म ही सत्य है।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है।
वासुदेवः सर्वमिति (गीता ७.१९) —यह सब कुछ वासुदेव ही है।

२. **जीवनं सर्वभूतेषु** (गीता ७.९)— सब प्राणियों में जीवन परमात्मा ही है।
भूतानामस्मि चेतना (गीता १०.२२)— सब प्राणियों की चेतना परमात्मा ही है।
भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः।—सब प्राणियों में भगवान् वासुदेव ही स्थित है।
सीय राममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

चिन्मय सत्ता का मात्र स्पन्दन ही है। तत्त्वज्ञानी के लिए अन्ततोगत्वा, तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र परमात्मा ही है।

परमात्मा और जीवात्मा तत्त्वत: एक ही हैं। जीवात्मा अज्ञानतिमिर से आवृत होकर अथवा माया के आवरण के कारण स्वरूप-विस्मरण होने पर स्वयं को जड, सीमित, बद्ध और सुखी-दु:खी मान लेता है। स्वरूप-विस्मरण होने पर राजपुत्र भिक्षुक हो जाता है तथा अपनी दुर्गति कर लेता है। ज्ञान द्वारा अज्ञान का निराकरण होने पर जीवात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। मनुष्य का क्षुद्र 'अहं' दिव्य अहं हो जाता है तथा उसे 'सोऽहम्' की अनुभूति हो जाती है। प्रतिबिम्ब बिम्ब में समाविष्ट हो जाता है तथा बिम्ब ही प्रतिष्ठित हो जाता है।

ईश्वर के सब प्राणियों में अवस्थित होने की धारणा को स्वीकार करने पर मनुष्य की अन्तरात्मा में सबके मङ्गल की कामना (सर्वोदय भाव, सर्वकल्याण भाव, अन्त्योदय भाव) का उदय हो जाता है।[1] सृष्टि ईश्वर-रूपा है तथा सभी के अस्तित्व एवं जीवन का स्रोत एवं आधार ईश्वर है तथा ईश्वर सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान है।[2] चेतना के विकास के आधार पर वनस्पति, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और मनुष्य में भिन्नता है,

---

१. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
— सभी सुखी हों, नीरोग हों, सबका कल्याण हो, कोई दु:खी न रहे।
न त्वहं कामये राज्यं न सुखं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥
—न मुझे राज्य चाहिए, न मोक्ष। मैं दु:खी प्राणियों के कष्ट-हरण की कामना करता हूँ।

२. समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् (गीता १३.२७)— परमात्मा सबमें समान रूप से स्थित है।
सीय राममय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।
उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध,
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।

किन्तु ईश्वर के नाते सभी के साथ एक मूलभूत आध्यात्मिक नाता स्थापित हो जाता है।

मानव-समाज में भी परस्पर आध्यात्मिक संबंध होने पर ही स्थायी समरसता एवं सामंजस्य स्थापित हो सकते हैं। सभी ईश्वरमय हैं, सभी मनुष्य भगवान् के चलते-फिरते मन्दिर हैं, सभी में दिव्यत्व है। घृणा और द्वेष, छल और कपट तथा अन्याय और अत्याचार समरसता की स्थापना एवं सामाजिक विकास में बाधक होते हैं। सबके हित में मेरा भी हित अन्तर्निहित है। सभी अपने समान हैं।[१] जो कुछ मुझे अपने प्रतिकूल प्रतीत होता है, वह दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए।[२] दूसरों की पीड़ा गहरे स्तर पर मेरी भी है, क्योंकि सबके भीतर एक ही चेतना है। व्यापकता और उदारता में, प्रेम और सेवा में तथा दूसरों के कष्ट-हरण में सच्चा सुख होता है; संकीर्णता में सुख नहीं है।[३] निःसीमता में सुख है, अल्पता में नहीं। सम्प्रदाय, पन्थ, वर्ग, जाति, भाषा, क्षेत्र, देश आदि के मानवकृत भेद से ऊपर उठकर सबके अभ्युदय एवं कल्याण में सचेष्ट होना मानवता के विकास-पथ को प्रशस्त करता है।

आत्मा के स्तर पर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ तथा प्राणियों के साथ एकात्मता का नाता मानना आध्यात्मिकता है। अपने भीतर विश्वव्यापी चैतन्यसत्ता के साथ एक तादात्म्य स्थापित करना दिव्यानुभूति का उपाय है। यह पुनः-पुनः स्मरणीय है कि एक ही विश्वव्यापी चेतना समस्त प्राणियों का जीवन-स्रोत एवं जीवनाधार है तथा जो दिव्य तत्त्व मुझमें है, वह सबमें है। सभी मूलतः दिव्य हैं। सबके कल्याण की कामना करना

---

१. **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन** (गीता ६.३२)— अपने समान सर्वत्र समदर्शन करना योगी का लक्षण है।

२. **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।** — अपने प्रतिकूल लगनेवाला आचरण दूसरों के साथ न करें।

३. **यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति** (छा० उप० ७.२३)—व्यापक होने में सुख है, संकीर्ण होने में सुख नहीं है।

सात्त्विक प्रेम का लक्षण है। मनुष्य को व्यावहारिक स्तर पर अपनी चेतना के विकास के अनुसार ही व्यवहार करते हुए, शनैः-शनै अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। अन्तश्चेतना से स्फुरित होने पर ज्ञानी व्यक्ति हिंसा करके भी हिंसा नहीं करता।[1]

जगत् ईश्वर से व्याप्त है तथा सभी कुछ ईश्वर का है। मानव पृथ्वी पर एक यात्री की भाँति कुछ अवधि के लिए आता है तथा वह जैसे खाली हाथ आता है, वैसे ही खाली हाथ लौट जाता है। यह पृथ्वी कर्मभूमि भी है तथा मनुष्य कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। योगी अनासक्त होकर कर्मफल तथा सुख-दुःख से परे जाकर भगवान् के साथ जुड़े हुए आनन्दमय रहते हैं। किसी व्यक्ति का धन-सम्पत्ति पर स्वामित्व-भाव होना मिथ्या एवं हास्यास्पद है। 'इदं नमम' —यह मेरा नहीं है, ईश्वर का है। अधम व्यक्ति केवल अपने तथा अपने परिवार के लिए ही जीते हैं तथा उत्तम पुरुष लोक-हित के लिए त्यागमय जीवन-यापन करते हैं।[2]

मनुष्य धन-सम्पत्ति का संरक्षक (ट्रस्टी, न्यासी) होकर उसके सदुपयोग से स्वयं की तथा समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकता है। धन के दुरुपयोग से दुःख एवं अशान्ति प्राप्त होते हैं।

धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश।[3] दान अर्थात् दीन-दुःखी जन के कष्ट-निवारण एवं दुःख-हरण के लिए धन का सहर्ष

---

१. **यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥** (गीता १८.१७)
— अहंभाव से मुक्त तथा अलिप्त पुरुष मारकर भी वास्तव में न तो मारता है, न पाप से बद्ध होता है।

२. **मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।** (ऋग्वेद १०. ११७. १५.६)
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। (गीता ३.१३)—अकेला ही सब कुछ खा लेनेवाला पापी होता है।

३. **दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयः भवन्ति वित्तस्य।** (नीतिशतक ४२)

उपयोग करना धन की उत्तम गति है। अपने सुखभोग के लिए ही धन का व्यय करना उसकी मध्यम गति है। मधुमक्षिका की भाँति धन-सम्पत्ति का मात्र संग्रह करते रहना और उसकी रक्षा एवं वृद्धि में ही संलग्न रहकर मृत्यु को प्राप्त हो जाना धन की अधम गति है। दान देकर उसका बखान और गान करना तथा प्रशंसा की इच्छा और आशा करना क्षुद्रता होती है। सब कुछ ईश्वर का है, कौन किसे क्या दे सकता है? अपनी सामर्थ्य और श्रद्धा के अनुसार धनदान द्वारा सत्पात्र की सहायता करना विवेक होता है।[१] यदि हम किसी कारण से दान न दे सकें तो मन में सद्भावना करके सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। सच्ची सद्भावना से मन पवित्र होता है। सेवाभावना एवं श्रद्धा के बिना पुण्यकर्म निष्प्राण हो जाता है।[२]

धनसम्पत्ति का आनन्द से कोई संबंध नहीं होता। आनन्द मनुष्य के भीतर ही जीवन के उच्चतम धरातल पर स्थित होकर उच्चतम आदर्शों एवं मूल्यों के पालन से उपजता है। धन से भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री खरीदी जा सकती है, किन्तु सुख और शान्ति को नहीं खरीदा जा सकता है। मात्र धन-प्राप्ति एवं संचय से मनुष्य की अन्तस्तुष्टि अथवा आत्यन्तिक तृप्ति नहीं हो सकती।[३] अपार धन से भी अमृतत्व (परम आनन्द) की आशा नहीं की जा सकती।[४]

---

१. **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर** (अथर्ववेद ३.२४.५)— सौ हाथों से एकत्रित करो, सहस्र हाथों से दान दो।
पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए यह सज्जन को काम॥

२. **श्रद्धया देयमश्रद्धयादेयम्** (तैत्ति० उप० १.११) श्रद्धा से दान दें, अश्रद्धा से नहीं।
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः (नीतिशतक ५७)—सेवाधर्म परम गहन होता है, जो योगियों के लिए भी अगम्य होता है। सेवाभावना से सेवा करें।

३. **न हि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः** (कठोप० १.१.२७)— धन से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता।

४. **अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन** (बृह० उप० २.४.२)— धन से अखण्ड आनन्द

अपार धन अर्जित एवं संगृहीत करना जीवन का साध्य एवं लक्ष्य नहीं हो सकता। स्वार्थवृत्ति से धनसंग्रह (परिग्रह) करते रहना दु:ख का कारण होता है।[१] यथासंभव सीधा-सच्चा रहकर धनार्जन करना तथा समुचित साधनों से सन्तुष्ट रहकर सन्मार्ग पर चलना ही जीवन में शान्ति की स्थापना कर सकता है। यह एक तथ्य है कि मनुष्य सन्तोष और सादगी बिना सुख नहीं पा सकता, दीन-दु:खी जन की सेवा बिना शान्ति नहीं पा सकता तथा भगवान् के शरणापन्न हुए बिना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। छल-कपट एवं अन्याय से प्राप्त धन जीवन में अशान्ति का कारण हो जाता है। अनुचित साधनों एवं अन्याय से प्राप्त धन स्थिर नहीं रहता तथा मनुष्य को भटका देता है। वास्तव में धन-सम्पत्ति की अदम्य लालसा मनुष्य को मार्गभ्रष्ट कर देती है। सन्तोष मानसिक शान्ति प्रदान करता है। वास्तव में जिसकी तृष्णा अदम्य है वह दरिद्र है तथा मन में सन्तोष होने पर दरिद्रता का भाव नष्ट हो जाता है।[२] सात्त्विक मार्ग से प्राप्त अल्प धन भी पर्याप्त हो जाता है।[३] सात्त्विक पुरुष की सहायता भगवान् स्वयं करते हैं।

की तो आशा ही नहीं। याज्ञवल्क्य ऋषि से यह वचन सुनकर उनकी विदुषी पत्नी ने कहा— **येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।** — जिससे मैं अमृतमयी नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? जो कुछ भगवान् (आप) अमृत-प्राप्ति का साधन जानते हों, वही मुझे बतायें।

१. **परिग्रहो हि दु:खाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।**
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचन॥ (भागवत ११.९.१)
—मनुष्यों को जो वस्तुएँ प्रिय लगती हैं, उनका परिग्रह कर लेना दु:ख का कारण हो जाता है। ज्ञानी पुरुष अकिंचन होकर भी अनन्त आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

२. **स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।**
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र:॥ (वैराग्यशतक ४७)
—वह दरिद्र है, जिसकी तृष्णा विशाल है। मन में परितोष के आ जाने पर कौन धनी और कौन दरिद्र ?

३. **साँई इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय।**
मैं भी भूखा ना मरूँ, साधु न भूखा जाय॥ (कबीर)

गृहस्थ के लिए विवेकमय परिग्रह आवश्यक होता है, किन्तु धन-सम्पत्ति के संग्रह को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बनाने से समाज में बड़े-छोटे का भेदभाव, धन-प्रदर्शन की होड़, द्वेष तथा विषमता उत्पन्न हो जाते हैं। भगवान् की दृष्टि में सभी समान हैं तथा सभी अमृत-प्राप्ति के समान अधिकारी हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रहकर ही मनुष्य में संवेदनशीलता, करुणा, प्रेम, त्याग, सेवा तथा मानवीयता का उदय हो सकता है। भौतिक स्तर पर रहने से धन-सम्पत्ति के कारण परिवारों में परस्पर द्वेष, घृणा, कलह, विग्रह, छीन-झपट आदि की अनेक हिंसात्मक एवं वीभत्स घटनाएँ होती हैं तथा प्रतिष्ठित घराने भी विखण्डित एवं ध्वस्त होकर मिट्टी में मिल जाते हैं। भौतिक कामनाएँ मनुष्य को भोगवादी बनाकर अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में लिप्त कर देती हैं तथा उसे दिशाहीन एवं दिग्भ्रमित कर देती हैं। मन के भोगासक्त एवं मलिन होने पर मनुष्य अपने भीतर दिव्यता की आनन्दानुभूति प्राप्त करने से वंचित रह जाता है तथा पथभ्रष्ट होकर दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है।

विज्ञान और तकनीकी की अकल्पनीय प्रगति ने उत्पादन, उद्योग एवं उपभोग के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं तथा उसने व्यक्ति एवं समाज के जीवन-मूल्यों एवं जीवन-शैली को अत्यधिक प्रभावित कर दिया है। मनुष्य संवेदन-शून्य एवं जड़-सा हो गया है तथा संघर्ष, तनाव और अशान्ति ने जीवनधारा को विषाक्त ही कर दिया है। निश्चय ही मनुष्य 'क्या खोया, क्या पाया' से परे जाकर तथा सीमित स्वार्थ और क्षुद्र अहंकार से ऊपर उठकर और व्यापक एवं विराट् होकर,अपने भीतर आत्मचैतन्य से जुड़कर ही समत्व एवं शान्ति का अनुभव कर सकता है।

मनुष्य को तीन प्रकार की एषणाएँ ग्रस्त करती हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा।[1] किन्तु इनमें धन की एषणा अत्यन्त प्रबल होती है। निस्स्पृह

१. ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति (बृ० उप० ३.५.१)— ब्रह्मज्ञानी सन्तान की एषणा, वित्त (धन) की

ज्ञानी के लिए जगत् के भौतिक ऐश्वर्य तृणवत् होते हैं।[1] मनुष्य को लोभ की मृगमरीचिका भ्रमित करती रहती है तथा अपार धन पाकर भी मनुष्य अन्तःतृप्त नहीं होता। लोभ अनेक पापों का कारण होता है।[2] लोभ की उत्कटता ऐसी तीव्र होती है कि मनुष्य धन-संग्रह के लिए ही धन की कामना करने लगता है।[3]

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन मनुष्य को विनाश की ओर ले जाते हैं तथा इन पर अंकुश लगाना चाहिए।[4] लोभ रजोगुण के बढ़ने से उत्पन्न होता है।[5] वास्तव में लोभ के मूल में भी काम ही होता है तथा सन्तोष करने से ही लोभ-वृत्ति का शमन होना संभव होता है।[6] मनीषियों ने धन-लोभ के त्याग पर विशेष बल दिया है।[7] मनुष्य कामनाओं के उदात्तीकरण द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर सकता है। मनुष्य विवेक के नेत्र खोलकर

एषणा तथा लोक (कीर्ति) की एषणा से मुक्त होकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं।

१. **निस्स्पृहस्य तृणं जगत्**—स्पृहामुक्त व्यक्ति के लिए जगत् तृण (तुच्छ) है।

२. **लोभः पापस्य कारणम्**—लोभ पाप का कारण है। '**लोभ पाप का मूल।**' **लोभाविष्टो न किं कुर्यात् अकृत्यं पापमोहितः**— लोभग्रस्त मनुष्य क्या कुकर्म नहीं करता ?

३. **कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।**
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

४. **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (गीता १६.२१)—काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरक के आत्मनाशक द्वार हैं। इस त्रय का त्याग कर देना चाहिए।

५. **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ (गीता १४.१२)
—रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, कर्मचेष्टा तथा प्रारंभ, अशान्ति और स्पृहा उत्पन्न होते हैं।

६. **बिनु सन्तोष न काम नसाई।**

७. महात्मा गांधी बड़े उद्योगों तथा मशीनों के विरुद्ध नहीं थे तथा वे लोभ छोड़कर मनुष्य के हित को केन्द्र में रखना चाहते थे।

विषय-सागर को सरलता से पार कर लेता है। स्वामित्व एवं आसक्ति का त्याग अध्यात्म की प्रमुख आवश्यकता है।[१]

वास्तव में सुखभोग का निषेध नहीं है, किन्तु धन पर स्वामित्व एवं एकाधिकार तथा भोगासक्ति का निषेध आन्तरिक शान्ति के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य आसक्ति का त्याग करके सुखभोग करने से शान्ति को सुरक्षित रख सकता है।[२]

सुख तथा तृप्ति का संबंध मनःस्थिति से होता है, धन से कदापि नहीं। विवेकशील पुरुष अपने मन के सुधार में सचेष्ट रहता है तथा स्वार्थ से परमार्थ की ओर, संकीर्णता से व्यापकता की ओर तथा बहिर्जगत् की भौतिक चकाचौंध से अपने भीतर आत्मचैतन्य के आनन्द की ओर बढ़ता रहता है तथा अपने भीतर और बाहर ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कर लेता है। यह सब कुछ ईशावास्य है।

प्रार्थना—हे प्रभो, मुझे ऐसी सद्बुद्धि दीजिये कि मैं आपकी

---

१. **मान्धाता क्व महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः।**
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः॥
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते।
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति॥ (भोजप्रबन्ध ३८)
—जब महाराज भोज को उसके चाचा मुञ्ज ने लोभवश हत्या के लिए भेज दिया था, भोज ने उसे यह श्लोक लिखकर भेजा, जिससे मुञ्ज की आँखें खुल गयीं। हे राजन्, सतयुग में राजा मान्धाता राज्य करके कहाँ चला गया? जिस राम ने महासमुद्र पर सेतु बाँध दिया और दशशीष रावण का वध कर दिया, वह कहाँ है? युधिष्ठिर आदि अन्य अनेक परलोक चले गये, किन्तु यह पृथ्वी किसीके साथ नहीं गयी। अवश्य ही अब यह तेरे साथ जायगी।

२. **असक्त** (गीता ३.७), **मुक्तसङ्ग** (गीता ३.९), **रागद्वेषवियुक्त** (गीता २.६४)।
तस्मात् उद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥ (भागवत ११.२२.५६)
—हे उद्धव, असद् इन्द्रियों से विषयों का भोग मत कर। आत्मा के अग्रहण (अज्ञान) से प्रतीत होनेवाला सब वैकल्पिक भ्रम है।

सर्वव्यापकता, सत्ता और करुणामयता का अनुभव कर सकूँ तथा सुखभोग की आसक्ति और धनलोभ को छोड़कर, सन्मार्ग पर चलते हुए जीवन को सार्थक कर सकूँ।

दिव्यामृत-सारांश

इस दृश्यमान सृष्टि में जो कुछ भी गतिमान् दीखता है, यह सब ईश्वर से व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि में ओतप्रोत ईश्वर की चैतन्यसत्ता ही इसे गतिमयता प्रदान करती है। दिव्य चैतन्यसत्ता में अनन्तऊर्जा का प्रवाह अन्तर्निहित होता है।

मानव-देह सम्पूर्ण सृष्टि का एक लघु संस्करण है, जिसके जीवन का आधार भी एक सूक्ष्म चेतना है, जिसमें ऊर्जा प्रच्छन्न रहती है। विश्व की परम चेतना एवं उसकी प्रच्छन्न ऊर्जा अनन्त है तथा देहगत चेतना एवं उसकी प्रच्छन्न ऊर्जा भी अनन्त है। अनन्त का अर्थ पूर्ण है।

जड जगत् के सुख क्षणिक, सान्त और तुच्छ होते हैं तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा का आनन्द अखण्ड, अनन्त और गहन होता है। मानव-जीवन की कृतार्थता, चेतना के विकास द्वारा, अपने भीतर ही आत्मानुभूति करना तथा जीवधारियों के साथ एकात्मता स्थापित करना है।

इस जगत् की व्यावहारिक सत्ता है, यद्यपि आत्मचैतन्य में संस्थित होने पर यह जगत् मिथ्या प्रतीत होता है। चैतन्यसत्ता ही सत् (शाश्वत, नित्य) है तथा वह आनन्दस्वरूप है। परमात्मा सच्चिदानन्द है और मनुष्य का आत्मा उसीका अंश (चिदंश) है; दोनों तत्त्वतः एक हैं। मनुष्य का आत्मा भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। मानव मूलतः दिव्य है तथा दिव्यता की ओर बढ़ते रहने पर जीवन के सौन्दर्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति हो जाती है। ●

मन्त्र २

कुर्वन्नेहवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

शब्दार्थ : इह = इस संसार में; कर्माणि = कर्मों को; कुर्वन् = करते हुए; एव = ही; शतं समा: = सौ वर्ष तक; जिजीविषेत् = जीने की इच्छा करनी चाहिए; एवं = इस प्रकार से; कर्म = किये हुए कर्म; त्वयि नरे = तुझ नर में; न लिप्यते = लिप्त नहीं होते; इत: = इससे (भिन्न); अन्यथा = अन्य प्रकार, अन्य विधि; न अस्ति = नहीं है।

वचनामृत : इस जगत् में कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार से किये हुए कर्म तुझ नर में लिप्त नहीं होंगे। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सन्दर्भ : जीवन में कर्म को प्रतिष्ठित करके सुदीर्घ जीवन की इच्छा करनी चाहिए। प्रवृत्ति द्वारा निवृत्ति का, कर्म द्वारा मुक्ति का, मार्ग खुलता है। इस मंत्र में कर्मण्यता अथवा कर्मयोग का उपदेश है।

दिव्यामृत : ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी को केवल जीवन ही नहीं दिया, बल्कि जिजीविषा (सुखपूर्वक जीवित रहने की इच्छा) भी दी है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को सुरक्षित एवं सुखी रखने के लिए कर्म एवं संघर्ष करता है। अपने अस्तित्व की रक्षा करने की प्रवृत्ति प्राणिमात्र में सहज है। छोटी-सी चींटी भी अपने जीवन को चलाने के लिए श्रम में निरत रहती है तथा प्राणसंकट आने पर अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष में आक्रामक भी हो जाती है। व्यक्ति और राष्ट्र आसुरी शक्तियों से घिर जाने पर अस्तित्व की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर संघर्ष करते हैं। आत्मरक्षा के लिए संघर्ष करना एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

संसार में जीवन ही सर्वाधिक मूल्यवान् एवं महत्त्वपूर्ण है। जीवन एक दिव्यतत्त्व अथवा परम चैतन्यसत्ता का दिव्य स्फुरण है। समग्र जीवनतत्त्व

एक है। जीवन का परिरक्षण, संपोषण एवं संवृद्धि करना मानव का पुनीत कर्तव्य है। जीवन-चक्र के संचालन में वनस्पति, कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी और मानव सबका ही अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होता है तथा सबका ही योगदान होता है। विषैले और हिंसक पशु-पक्षियों का भी समष्टिजीवन की रक्षा में महत्त्व होता है।

चेतना-विकास के क्रम में मनुष्य प्रमुख एवं सर्वोपरि है। बुद्धिमण्डित अर्थात् चिन्तनप्रधान होने के कारण मनुष्य का विशेष दायित्व एवं कर्तव्य होता है। अपने अर्जित एवं संचित ज्ञान तथा शक्ति का लोक-हित में सदुपयोग करना मनुष्य का न केवल परमार्थ है, बल्कि स्वार्थ भी है। श्रेष्ठ पुरुष सहज ही संवेदनशील एवं करुणामय होते हैं तथा परपीडा-हरण एवं कष्ट-निवारण में तत्पर रहना उनका स्वभाव होता है।

यद्यपि जीवित रहने की इच्छा स्वाभाविक है, मनुष्य को उत्तम उद्देश्यों की पूर्ति के लिए युक्त आहार-विहार करते हुए सौ वर्ष तक अर्थात् अधिकाधिक अवधि तक जीने की इच्छा तथा प्रयत्न करना चाहिए।[१] मनुष्य अपनी जीवनी शक्ति और समय का उत्तम कर्म के सम्पादन में सदुपयोग करके ही कृतार्थता का अनुभव कर सकता है।

मृत्यु अर्थात् देहनाश होना मानव की नियति है तथा सर्वथा अपरिहार्य है। सन्त और असन्त, विद्वान् और अज्ञ, सम्राट् और भिखारीसभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। विषम परिस्थिति में भी मृत्यु की कामना करना पलायनवृत्ति का द्योतक होता है तथा अशोभनीय कायरता होती है। मृत्यु से कदापि भयभीत नहीं होना चाहिए।[२] वास्तव में मृत्यु को सहज भाव में स्वीकार करना मृत्यु-भय को पार करने का सुगम उपाय है।

---

१. **शतायुर्वै पुरुषः** — मनुष्य की औसत आयु सौ वर्ष है।
शतं जीवन्तु शरदः (ऋग्वेद १०.१८.४)—सभी मनुष्य सौ वर्ष तक जीयें।

२. **परं मृत्यो अनु परेहि** (ऋग्वेद १०.१८.१)— हे मृत्यो, तू भाग जा। **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत** (अथर्ववेद ११.१५.१९)—उत्तम पुरुष ब्रह्मचर्य और तप से मृत्यु को मार भगाते हैं।

ज्ञानी पुरुष आत्मनिष्ठ होता है तथा वह आध्यात्मिक भाव के कारण देह से ऊपर उठ जाता है। वह जीने की इच्छा तथा मृत्यु के भय से परे जाकर, अन्तःस्फूर्त होकर सहज भाव से कर्म करता है। आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचकर ज्ञानी कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व (कर्ता और भोक्ता होने का भाव) से मुक्त हो जाता है तथा दैवी प्रेरणानुसार कर्म करते हुए सम और शान्त रहता है।

ज्ञानी पुरुष शुभ एवं अशुभ, पुण्य एवं पाप, सुख एवं दुःख तथा सम्मान एवं अपमान के भाव से मुक्त रहता है तथा आत्मा के स्तर पर जीवनचर्या होने के कारण उसके लिए मृत्यु का अस्तित्व और अर्थ नहीं होता। ब्रह्मज्ञान द्वारा ज्ञानी पुरुष मृत्यु को पार कर लेता है।[१]

जीवन में कर्म की महिमा के प्रतिष्ठित होने पर कर्म कल्याणकारी हो जाता है। परमेश्वर की आड़ लेकर कर्ममार्ग का परित्याग करना तथा आलस्यग्रस्त हो जाना नितान्त अविवेक है। सुखमय जीवनयापन के लिए कर्मण्यता का अपरिमित महत्त्व है।

ईश्वरीय योजना के अन्तर्गत प्रकृति स्वयं निरन्तर गतिशील एवं कर्मरत रहती है। परिवर्तन का आधार गतिमयता होती है। विशाल व्योम में नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि सभी सतत सक्रिय रहते हैं तथा एक क्षण के लिए भी कर्मविरत नहीं होते। प्रकृति के अधिपति भगवान् स्वयं कोई कर्तव्य न होने पर और कुछ प्राप्तव्य न होने पर भी जागरूक होकर कर्म करते हैं तथा यदि वे कर्म न करें तो जगत् अव्यवस्थित होकर विनष्ट हो जाय।[२]

मनुष्य भी प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रज, तम) के वशीभूत होने के कारण कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। कर्म जगच्चक्र के

---

१. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति (श्वेत० ३.८)—उसे जानकर मृत्यु को पार कर लेता है।

मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् (यजुर्वेद ३.६०)—वह हमें मृत्यु के बन्धन से छुड़ा दे।

२. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (गीता ३.२२)

प्रवर्तन में योगदान देता है।[1] कर्म बिना जीवन-यात्रा भी संपन्न नहीं हो सकती।[2] देहधारी प्राणी कर्म को पूर्णतः छोड़ भी नहीं सकता।[3]

मनुष्य आलस्य और अकर्मण्यता को छोड़कर तथा कर्मरत एवं पुरुषार्थी होकर जीवन में सफल एवं सुखी हो सकता है। अविवेकी पुरुष अपनी विफलता एवं विपन्नता के लिए भगवान् और भाग्य को तथा दूसरों को दोष देकर आत्ममंथन एवं आत्मसुधार के द्वार ही बन्द कर देता है। विवेकशील पुरुष आत्मसुधार, सद्विचार एवं सत्कर्म से अपने सुख और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। कर्मशीलता मनुष्य की जीवन्तता का लक्षण होता है। श्रेष्ठ पुरुष कर्मशील पुरुष की ही प्रशंसा करते हैं।[4] ब्रह्मज्ञानियों में भी कर्मनिष्ठ पुरुष की प्रशंसा की जाती है।[5] मनुष्य को

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (गीता ३.२३)
—श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है, मेरा कुछ प्राप्तव्य नहीं है, तथापि मैं कर्म करता हूँ। यदि मैं सजग होकर कर्म न करूँतो लोग भी ऐसे ही हो जायेंगे।

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३.५)
—श्रीकृष्ण कहते हैं कि कोई भी बिना कर्म किये हुए नहीं रह सकता। सब प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म करते रहते हैं।

२. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येत् अकर्मणः (गीता ३.८) —तेरी शरीर-यात्रा भी बिना कर्म संपन्न नहीं हो सकती।

३. न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः (गीता १८.११) —देहधारी मनुष्य पूर्णतः कर्म का त्याग कर नहीं सकता।

४. इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहन्ति, यन्ति प्रमादमतन्द्राः (ऋग्वेद ८.२.१८)— देव कर्मशील को प्रिय मानते हैं, कर्मशील को ही प्रेम करते हैं। वे सोते रहनेवाले आलसी मनुष्य से प्रेम नहीं करते।

५. आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः (मुण्डक उप० ३.१.४) —आत्मज्ञानी भी अन्तःस्फुरित होकर सहज भाव से कर्म करता हुआ ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है।

सर्वदा भद्र एवं अनिन्दनीय कर्म करना चाहिए, अभद्र एवं निन्दनीय कर्म कदापि नहीं।[१] सात्त्विक एवं शुभ कर्म जगच्चक्र को सात्त्विक दिशा में प्रवर्तित करते हैं। मनुष्य शुभ कर्म करते हुए ही जीवन को सार्थक, सफल और सुखमय बना सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक विशेष दिशा होती है। मनुष्य अपने भीतर ही उसकी खोज करके तथा उसके अनुसार चलकर गहन सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। उचित दिशा मिल जाने पर लक्ष्य भी स्पष्ट हो जाता है। कोई कर्म बड़ा या छोटा नहीं होता तथा सबकी अपनी भिन्न दिशा होती है। मनुष्य अपनी विशेष दिशा में अपने विशेष लक्ष्य को प्राप्त करके कृतार्थता का अनुभव करता है।

अकर्मण्यता एवं शिथिलता मनुष्य को निकृष्ट बना देते हैं। आत्म-विश्वास के अभाव में मनुष्य को सरल-सा कार्य भी कठिन प्रतीत होने लगता है। मनुष्य उत्तम प्रयत्न को रोककर ऊर्जा के विकास को अवरुद्ध कर लेता है तथा आत्मपतन कर लेता है। मनुष्य अपने मन के भंवर में फँसकर अपनी दुर्दशा का कारण स्वयं हो जाता है। मनुष्य निरुत्साहित और निष्क्रिय होकर शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जीवन में अन्तिम श्वास तक उत्साह का त्याग नहीं करना चाहिए तथा यथासंभव उत्तम लक्ष्य की पूर्ति के प्रति समर्पित भाव से सक्रिय रहना चाहिए। सक्रियता मनुष्य की जीवन्तता का लक्षण होती है।

प्रकृति ने मनुष्य को इच्छा की स्वतंत्रता देकर उसे स्वतंत्र कर्ता[२] बना दिया। मनुष्य भला या बुरा कर्म करने में स्वतंत्र है। वह अपने जीवन की दिशा तथा लक्ष्य का निर्णय करने में स्वतंत्र है।

मनुष्य अपने चिन्तन द्वारा मन का निर्माण करने में तथा पुस्तकों और

---

१. यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि (तै० उप० १.११) —जो अनिन्दनीय कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिए, दूसरे कर्मों का नहीं।

२. Free Will; Free Agent.

मित्रों का चयन करने में भी पूर्णतः स्वतंत्र है। वह अपने सुख और दुःख के लिए स्वयं ही उत्तरदायी होता है।

मनुष्य परमेश्वर के विधान के अनुसार कर्म का फल प्राप्त करता है। कर्म के मूल में स्थित भावना कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय करती है। भावना कर्म का प्राण होती है। उत्तम भावना से कर्म करते हुए मन में प्रसन्नता का अनुभव होता है तथा अधम भावना से कर्म करते हुए मन में क्लेश का अनुभव होता है। अपने भीतर गहरे स्तर पर प्रसन्नता होना कर्म की उत्तमता की सूचना देता है।[१] मनुष्य के मन को कुमार्ग, कुविचार, कुकर्म कुत्सित कर देते हैं।

कर्म के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से मानवमात्र को उपदेश दिया—तू कर्म ही कर।[२] किन्तु फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिए।[३] आसक्तिसहित कर्म करने से कर्म बन्धन हो जाता है। स्वार्थजीवी होकर जीवन के किसी क्षेत्र में मात्र अपनी उन्नति करने तक सीमित रहना तथा मात्र अपनी पारिवारिक संपन्नता एवं प्रतिष्ठा को अर्जित करने में रुचि लेना सच्चा सुख नहीं देता। श्रेष्ठ पुरुष सहज ही उदारचेता एवं करुणामय होते हैं तथा परोपकार में संलग्न रहते हैं। यज्ञभावना (उदात्त भावना, लोक-कल्याण की उदार भावना) से प्रेरित होकर, आसक्ति को त्यागकर, कर्म करने से मनुष्य पाप पुण्य में लिप्त नहीं होता।[४] परमात्मा

---

१. **विन्दति आत्मनि यत्सुखम्**—जिस सुख को अपने भीतर ही प्राप्त कर लेता है।

२. **कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्** (गीता ४.१५)— अतएव तू कर्म ही कर।

३. **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर** (गीता ३.१९)—अतः असक्त होकर श्रेष्ठ कर्म कर।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ (गीता २.५१)
—मनीषी पुरुष बुद्धियुक्त होकर,कर्मफल की इच्छा छोड़कर,बन्धनमुक्त हो जाते हैं तथा अमृतपद को प्राप्त कर लेते हैं।

४. **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गीता ३.९)

को कर्म अर्पण कर देने से तथा आसक्ति त्याग देने से मनुष्य सर्वथा बन्धनमुक्त रहता है। वास्तव में फल की इच्छा एवं आसक्ति छोड़ने पर अर्थात् अलिप्त रहने पर मनुष्य का कर्म एक योग हो जाता है तथा मनुष्य कर्म करके भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता।[१] परमात्मा को कर्म अर्पण करनेवाला, अनासक्त कर्मयोगी जल में कमल की भाँति पाप-पुण्य में लिप्त नहीं होता।[२] अनासक्त होकर कर्म करनेवाले कर्मयोगी का विशेष महत्त्व होता है।[३] आसक्ति त्यागकर कर्म करने से आत्मशुद्धि होती है।[४] कर्मफल की इच्छा को छोड़कर कर्म करनेवाला पुरुष संन्यासी तथा कर्मयोगी दोनों ही होता है।[५] फल की इच्छा छोड़कर कर्म करनेवाले निष्काम कर्मयोगी

—हे अर्जुन, स्वार्थभावना से किया हुआ कर्म बन्धनकारक होता है। तू उदार भावना से, आसक्ति छोड़कर कर्म कर।

१. **योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।**
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (गीता ५.७)
—पवित्र और जितेन्द्रिय होकर, सब प्राणियों की आत्मा ही होकर, कर्मयोगी कर्म करके भी लिप्त नहीं होता।

२. **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ (गीता ५.१०)
—जो मनुष्य परमात्मा को कर्म अर्पण करके, आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, वह जल में कमल की भाँति लिप्त नहीं होता।

३. **यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।**
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (गीता ३.७)
—जो मनुष्य इन्द्रियों को मन से संयत करके, अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह विशेष (श्रेष्ठ) होता है।

४. **योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये।** (गीता ५.११)—निष्काम कर्मयोगी आसक्ति को त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

५. **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।**
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ (गीता ६.१)
—जो मनुष्य कर्मफल के आश्रित न रहकर उत्तम कर्म करता है, वह संन्यासी और कर्मयोगी है। केवल अग्नि त्याग देनेवाला संन्यासी योगी नहीं होता, केवल क्रियाओं को त्याग देनेवाला भी संन्यासी योगी नहीं होता।

का कर्म सात्त्विक होता है।[1] योग का एक अर्थ है कर्मों में कुशलता।[2] श्रेष्ठ कर्म करना भगवान् की पूजा होती है। मनुष्य कर्म द्वारा परमात्मा की पूजा करने से सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[3] निष्काम कर्मयोगी कर्म से लिप्त नहीं होता अर्थात् वह कर्मबन्धन से मुक्त रहता है। वह सदा सम और शान्त रहता है। फल की चिन्ता छोड़ने पर मन दृढ और बलवान् हो जाता है।

वास्तव में भगवद्भाव में स्थित होकर (अपने भीतर भगवान् के साथ जुड़कर) कर्म करने से कर्म भागवत अथवा दैवी हो जाता है तथा सब प्रकार से कल्याणप्रद हो जाता है। आत्मनिष्ठ पुरुष अपने भीतर विशुद्ध चेतना-स्तर पर स्थित रहकर, सहज भाव से कर्म करता है तथा कष्ट में भी विचलित नहीं होता।[4] वह सदा प्रसन्न रहता है। वह दुःख में उद्विग्न नहीं होता, सुख में स्पृहारहित होता है।[5] मनुष्य सुख और दुःख, लाभ और हानि तथा जय और पराजय में समान रहकर पापमुक्त रहता है।[6] कर्मयोगी कर्म करके ही आत्मसन्तुष्ट हो जाता है तथा फल की चिन्ता नहीं करता,

---

१. **अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते** (गीता १७.१७)—फल की इच्छा छोड़कर किया हुआ कर्म सात्त्विक होता है।
२. **योगः कर्मसु कौशलम्** (गीता २.५०)—समत्वभाव से कर्म करना कर्मों की कुशलता होती है।
३. **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः** (गीता १८.४६)—मानव कर्म द्वारा परमात्मा की पूजा करके सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।
४. **न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते** (गीता ६.२२)—योगी घोर संकट में भी विचलित नहीं होता।
५. **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः** (गीता २.५६)—दुःखों में अनुद्विग्न, सुखों में स्पृहारहित।
६. **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २.३८)
—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को सम मानकर युद्ध कर, कोई पाप नहीं लगेगा।

क्योंकि फल सदैव ईश्वराधीन होता है।[१] भगवान् को हृदय में संस्थित करके जीवन में संघर्ष करते रहो।[२]

मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही होता है तथा वह श्रेष्ठ चिन्तन एवं कर्म से उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकता है। उत्तम कर्म करो और कर्म द्वारा आगे की ओर बढ़ते ही रहो। हे मानव, चलते ही रहो; रुको मत; चलते ही रहो, चलते ही रहो।[३]

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मैं जीवन का महत्त्व समझकर अपने समय और शक्ति का पूर्ण सदुपयोग करूँ। मैं उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदैव संघर्षरत रहूँ तथा कभी पलायन न करूँ। मैं आसक्ति त्यागकर कर्म करूँ तथा सन्मार्ग पर चलते हुए जीवन को गरिमामय बना सकूँ।

दिव्यामृत-सारांश

जीवन ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट वरदान है तथा सर्वाधिक मूल्यवान् है। मनुष्य को सुदीर्घ काल तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। जीवन सत्कर्म करते रहने से ही सार्थक होता है। निष्काम होकर अर्थात् फल की चिन्ता और आसक्ति (अनावश्यक लगाव) छोड़कर, कर्म करने से कर्म भगवान् की पूजा हो जाता है। सात्त्विक कर्म भगवत्प्राप्ति का साधन अथवा एक योग हो जाता है। ●

---

१. **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।** (गीता २.४७)
—तेरा अधिकार कर्म में है, फल में कदापि नहीं

२. **मामनुस्मर युध्य च** (गीता ८.७)—भगवान् का स्मरण करो और युद्ध करो। **हन्यते दुर्बलं दैवं पौरुषेण विपश्चिता**—बुद्धिमान् मनुष्य अपने पौरुष (पराक्रम) से दुर्बल दैव प्रारब्ध, भाग्य को परास्त एवं ध्वस्त कर देता है।

३. **चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदम्बरम्।**
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥ चरैवेति, चरैवेति।
—निरन्तर कर्मशील रहनेवाला पुरुष ही मधु प्राप्त करता है, उद्योगी पुरुष ही सुस्वादु फल चखता है। सूर्य को तो देखो। सूर्य नित्य चलता ही रहता है, आलस्य नहीं करता। अत: चलते रहो, चलते ही रहो।

मन्त्र ३

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

शब्दार्थ : असुर्याः = आसुरीभाव से युक्त अथवा असुरों के; नाम = नामवाले, प्रसिद्ध, ते = वे; लोकाः = लोग,जन, योनियाँ, लोक, लोगों के समूह; अन्धेन तमसा = अज्ञान तथा मोह, शोक, भय, चिन्ता, निराशा आदि अन्धकार से; आवृताः = आच्छादित हैं, ढके हुए हैं; ये के च = जो कोई भी; आत्महनः = आत्महत्यारे, अपना ही विनाश करनेवाले, अपनी दुर्दशा करनेवाले; जनाः = लोग, मनुष्य; ते = वे; प्रेत्य = मरकर; तान् = उन्हीं अन्धकारग्रस्त लोकों को; अभिगच्छन्ति = पुनः-पुनः प्राप्त होते हैं।

वचनामृत : आसुरीवृत्ति वाले मनुष्यों के लिए निर्धारित कहे जाने वाले वे (नरकरूप) लोक प्रगाढ अन्धकार से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा के विरुद्ध कार्य करनेवाले लोग हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होने पर उन्हीं अन्धकारपूर्ण लोकों को प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ : उत्तम मार्गों को छोड़कर कुमार्गों पर चलनेवाले, आसुरी-वृत्तिवाले मनुष्य दुर्दशा को प्राप्त होते हैं।

दिव्यामृत : मनुष्य सन्मार्ग अथवा कुमार्ग पर चलने में स्वतंत्र है। वह ऊपर की ओर उठने में अथवा नीचे की ओर गिरने के लिए स्वयं उत्तरदायी है। दूसरे व्यक्ति अथवा विषम परिस्थिति कष्ट दे सकते हैं, किन्तु दुःखी नहीं बना सकते। दुःख का संबंध अपनी मनःस्थिति से होता है, जो मनुष्य के विचारों अथवा चिन्तनशैली पर निर्भर होती है। मनुष्य अपने विचारों अथवा चिन्तनशैली में सार्थक परिवर्तन एवं सुधार करके अपनी मनः-स्थिति को स्वस्थ, शान्त और सुन्दर बना सकता है तथा वह मन के सशक्त एवं दृढ होने पर बहिर्जगत् की चुनौतियों को स्वीकार करके संघर्ष के लिए डट सकता है। अतएव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अपने भीतर निरन्तर उल्लास

एवं आनन्द की स्थिति का निर्माण होना आवश्यक है। जीवन में जीने की कला एवं विज्ञान को सीखने का आशय अपने भीतर स्थायी उत्साह, उल्लास और आनन्द के भाव को जगा देना होता है।

मनुष्य जीवन के उत्तम आदर्शों एवं मूल्यों को मन, वचन और कर्म से अपनाकर अपने भीतर और बाहर सच्चे सुख के स्वर्ग का निर्माण कर लेता है तथा वह आसुरीवृत्तियों का दास होकर अपने चारों ओर अन्धकार से व्याप्त नरक को उत्पन्न कर लेता है। मनुष्य अपने जीवनकाल में लोक में तो अभिनन्दित अथवा निन्दित होता ही है, वह मृत्यु के उपरान्त अपने कर्मों की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध भी छोड़ जाता है। श्रेष्ठ पुरुष जीवनकाल में सात्त्विक जीवन जीते हैं तथा मरणोपरान्त सुन्दर कीर्ति प्राप्त करते हैं। निकृष्ट जन जीवनकाल में निम्नस्तरीय जीवन जीते हैं तथा देहान्त होने पर अपकीर्ति छोड़ जाते हैं। उत्तम पुरुष मरकर भी चिरस्मरणीय एवं अमर रहते हैं तथा अधम मनुष्य जीवनकाल में तो अपने भीतर ही अनेक बार मरते ही हैं, अन्त में मरकर सदा के लिए विस्मृति के अन्धकार में खो जाते हैं। अधम मनुष्य अपने जीवनकाल में पृथ्वी पर भारभूत रहते हैं तथा तदुपरान्त वे अभागे अन्धतम से व्याप्त लोकों में चले जाते हैं अर्थात् अपमान और अपयश के प्रगाढ तिमिर में विलुप्त हो जाते हैं। वे जीवन के सौन्दर्य का संदर्शन करने से वंचित रहते हैं, क्योंकि वे आत्मप्रवंचना एवं मिथ्या व्यामोह से ग्रस्त होते हैं। आत्मज्ञान से रहित अबुध जन को न जीवनकाल में सुख मिलता है, न उसके पश्चात् सद्गति मिलती है।

मनुष्य जीवन में अपने लक्ष्य एवं सहायक उपलक्ष्यों का तथा उन्हें प्राप्त करने की उचित दिशा का निर्धारण न करने के कारण भटक जाता

---

१. **अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः॥** (बृह० उप० ४.४.११)
—वे अनन्द (असुख) नाम के लोक अन्ध तम से व्याप्त हैं। अविद्वान् और अज्ञानी जन मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं।

है तथा अपनी दुर्दशा कर लेता है। मनुष्य बुद्धिसंपन्न होकर भी, उत्तम चिन्तन न करने के कारण, निम्नस्तरीय पाशविक वृत्तियों का दास हो जाता है तथा पशुवत् आचरण करने लगता है।

विवेकशील पुरुष अपने चिन्तनस्तर को ऊँचा उठाकर तथा एक उत्तम सकारात्मक अथवा रचनात्मक दिशा में चलकर न केवल स्वयं ही गहन सुख प्राप्त कर लेता है, बल्कि दूसरों के चिन्तनस्तर को ऊँचा उठाकर तथा एक उत्तम सकारात्मक अथवा रचनात्मक दिशा का निर्देशन कर उन्हें भी गहन सुख प्राप्त करने की प्रेरणा दे देता है। निस्स्वार्थ होकर दूसरों के चिन्तनस्तर को ऊँचा उठाने में तथा उनके स्वभाव को सुधारने में सहायक होना सबसे बड़ी सेवा होती है।[१] इसीलिए आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार और प्रसार करनेवाला व्यक्ति मानवता का महानतम उपकार करता है।[२] आध्यात्मिक विद्या परा (श्रेष्ठ) विद्या होती है।

अन्धतम में पड़े रहना भौतिकवादिता का तार्किक परिणाम है, किन्तु

---

१. "None will be able to resist truth and love and sincerity. Are you sincere? Unselfish even unto death? And loving? Then fear not, not even death. Onward, my lads! The whole world requires light. It is expectant! India alone has that light, net in magic mummeries and charlatanism but in the teaching of the glories of the spirit of real religion—of the highest spiritual truth. That is why the Lord has preserved the race through all the vicissitudes unto the present day. Now the time has come. Have faith that you are all, my brave lads, born to do great things! Let not the barks of puppies frighten you—no, not even the thunderbolts of heaven—But Stand Up And Work"—Swami Vivekananda

२. "He who gives man spiritual knowledge is the greatest benefactor of mankind"—Swami Vivekananda.
स्वामी विवेकानन्द के साहित्य को पढ़कर भारतीय संस्कृति को सरलता से समझा जा सकता है।

वह मानव की नियति नहीं है। भोगासक्ति के व्यामोह में फँसे हुए लोग अन्धकूप में पड़े रहते हैं तथा काम और लोभ के कारण दुश्चिन्ता, काल्पनिक आशंका, ऊहापोह, निराशा, अवसाद, शोक, मोह, भय और चिन्ता से ग्रस्त होकर ऊर्जा का अपव्यय करते रहते हैं। वे अकर्मण्यता और शिथिलता का त्याग नहीं कर पाते। वे पशुओं की अपेक्षा अधिक दयनीय होते हैं। गतिहीन लोगों को रचनात्मक दिशा देकर गतिशील बनाना श्रेष्ठ सेवा है। जीवन का उद्देश्य स्वयं उच्च मानसिक धरातल पर रहकर परपीडा-हरण एवं अज्ञान-निराकरण करना तथा सर्वत्र उमंग, उत्साह, उल्लास और आनन्द का प्रसार करना है।

मनुष्य मानसिक शान्ति खोकर शोचनीय हो जाता है तथा सम्पर्क में आनेवाले अन्य जन को भी अशान्त कर देता है। स्वयं शान्ति खोकर मनुष्य दूसरों को न शान्ति दे सकता है और न उनकी सेवा ही कर सकता है। विवेकशील पुरुष स्वयं शान्त रहकर दूसरों की उत्तेजना, उद्विग्नता को तथा दूसरों के क्रोध को शान्त कर सकता है। वह परस्पर कलह करनेवाले लोगों के मध्य में सेतु बनकर भेद की खाई को पाट सकता है।

'**आत्महनो जनाः**' अर्थात् आत्मा की हत्या करनेवाले मनुष्य मृत्यु के बाद भी लोकोपवाद (लोकनिन्दा) से ग्रस्त रहते हैं।[१] आत्मा तो अविनाशी है तथा उसका हनन कदापि नहीं होता।[२] किन्तु आत्मा के विमुख चिन्तन एवं कर्म करनेवाला मनुष्य अपनी शान्ति को प्रनष्ट करके मानो आत्महनन कर लेता है। सभी मनीषियों का उपदेश है कि मनुष्य को सद्ग्रन्थों एवं सत्पुरुषों से सद्ज्ञान लेकर अपना प्रकाश-दीप स्वयं बन जाना चाहिए तथा

---

१. **लोकोपवादो बलवान् मतो मे** (रघुवंश १४.४०)
—मेरे मत में लोकोपवाद बलवान् होता है (यदि कोई मनुष्य लोकोपवाद के योग्य हो)।

२. **अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा** (बृ० उप० ४.५.३१४)
— याज्ञवल्क्य ऋषि ने मैत्रेयी से कहा—अरे मैत्रेयि, यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है।

अपना अन्तर्जागरण करना चाहिए। मनुष्य स्वयं ही आत्मोद्धार करने में सक्षम एवं समर्थ होता है।[1] वास्तविक आत्महत्यारा तो वह है, जो मन में क्लान्त और दुःखी होकर भी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता तथा अशुभ विचारों में और अशुभ कर्मों में ही फँसा रहकर उनके द्वारा सुख-प्राप्ति की आशा करता रहता है। कुकर्म मनुष्य को क्षणिक सुख दे सकते है, किन्तु वे शान्ति नहीं दे सकते। कुमार्ग कभी कल्याणकारी नहीं हो सकते तथा कुमार्गगामी को अन्त में पछताना पड़ता है। मनुष्य आत्माभिमुख होकर अपने भीतर ही प्रकाश एवं आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य के भीतर अनन्त चेतना एवं अनन्त ऊर्जा सन्निहित होती है। निश्चय ही वह अन्धकार से बाहर निकलकर, सुखद आलोक में सदा सुप्रसन्न रहकर सुखमय जीवनयापन कर सकता है। आवश्यकता होती है अपनी संकल्प-शक्ति से अन्तश्चेतना को जाग्रत् कर लेने तथा ऊर्जा को सक्रिय कर देने की। मनुष्य क्रतुमय होता है तथा वह जैसा संकल्प करता है, वैसा ही बन जाता है।[2] रेलगाड़ी में एक इंजन अनेक डिब्बों को सुदूर तक ले जाता है। इंजन बाष्प की ऊर्जा से गतिशील होता है तथा वह भीतर के बाधक धूम्र को बाहर फेंकता रहता है। उत्तम पुरुष का मन चालक की

---

१. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (गीता ६.५)
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ (गीता ६.६)
—अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचा दे, क्योंकि जीवात्मा आप ही अपना मित्र है तथा आप ही अपना शत्रु है॥ उस जीवात्मा का तो आप ही बन्धु है जिसके द्वारा स्वयं को जीता है तथा जिसके द्वारा स्वयं को नहीं जीता गया, वह स्वयं ही अपने शत्रु के तुल्य व्यवहार करता है।
'अप्पदीपो भव'—अपना प्रकाश-दीप स्वयं ही बनो।

२. क्रतुमयः पुरुषः (छान्दोग्य उप० ३.१४.१)
—मनुष्य का जैसा संकल्प होता है, वह वैसा ही बन जाता है।

भाँति होता है तथा उसके संकल्प से प्रच्छन्न ऊर्जा जाग्रत् होकर प्रवाहित होने लगती है और जीवन की गाड़ी उत्तम लक्ष्य की ओर चल पड़ती है। मनुष्य का सात्त्विक उत्साह शोक, मोह, भय, आशंका, चिन्ता और अवसाद के धुएँ को बाहर की ओर प्रक्षिप्त कर देता है। अपने भीतर स्थित अनन्त शक्ति को जाग्रत् करके तथा उत्तम दिशा में सक्रिय होकर मनुष्य जीवन की अँधेरी गलियों से बाहर निकलकर आनन्दमय हो सकता है।

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मुझे ऐसी सद्बुद्धि प्रदान कीजिये कि मैं कुमार्ग, कुसंग, कुविचार और कुकर्म से दूर रहकर तथा सन्मार्ग, सत्संग, सद्विचार और सत्कर्म को अपनाकर जीवन को सार्थक कर सकूँ।

दिव्यामृत-सारांश

मनुष्य अपने दु:ख और क्लेश का कारण स्वयं ही है। मनुष्य अपने चिन्तन द्वारा मन:स्थिति को सुधारकर सुखी और शक्तिशाली हो सकता है। आनन्द का संबंध अपनी मन:स्थिति से होता है तथा विवेकशील पुरुष उत्तम मन:स्थिति के निर्माण के प्रति सजग रहता है। ●

मन्त्र ४

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

शब्दार्थ : तत् = ब्रह्म, परमात्मा; अनेजत् = अचल, निष्कम्प; एकम् = एक (है); मनसः जवीयः = मन से अधिक गतिमान् (है); देवाः एनत् न आप्नुवन् = देव इसे नहीं पा सके; पूर्वं अमर्षत् = पहले ही पहुँचा हुआ है। (अथवा, पूर्वं अमर्षत् एनत् देवाः न आप्नुवन् = वह पहले ही पहुँचा हुआ है, (अतः) उसे देव भी प्राप्त नहीं कर सके) देव = शरीर के प्रकाश-द्वार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, जो दर्शन-शक्तियाँ (दिखानेवाली शक्तियाँ) हैं। विषयों (पदार्थों) का द्योतन (प्रकाशन) करने के कारण इन्द्रियाँ देव हैं। **देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति**(निरुक्त—महर्षि यास्क)—दान करने, दीपन करने या द्योतन करने के कारण 'देव', वह दिविस्थ होता है। इसके अतिरिक्त परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक भी 'देव' होते हैं। देह में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा जगत् में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, वरुण इत्यादि भी देव हैं। (तत्) अन्यान् धावतः तिष्ठत् अत्येति (अथवा, तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति) = वह ब्रह्म स्वयं ठहरे हुए ही अन्य तीव्र गति से भागनेवालों का अतिक्रमण कर देता है, उन्हें लाँघ जाता है। तस्मिन् = उस ब्रह्म में, उसके आश्रय से, उसकी सत्ता से; मातरिश्वा = वायु, प्राणतत्त्व, विश्व की ऊर्जा, जो सबको गतिमान् करती है; अपो दधाति = जलों को (वर्षा आदि को) धारण करता है, कर्मों (समस्त क्रियाओं) को धारण करता है, समस्त कर्मों का धारक एवं प्रेरक होता है।

'मातरिश्वा' तथा 'अपः' के अनेक अर्थ हैं। मातरिश्वा — सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्राणशक्ति, वैश्विक ऊर्जा। अपः —जल, (लक्षणावृत्ति से कर्म) ब्रह्म नपुंसकलिङ्ग है, क्योंकि वह न पुरुष है, न स्त्री है। वह निर्गुण,

निराकार सत्ता है। ॐ उसका वाचक होता है। आत्मा (परमात्मा) पुल्लिङ्ग है। जगत् का निमित्त एवं उपादानकारण ब्रह्म ही परमात्मा है।

वचनामृत : परब्रह्म परमात्मा अचल तथा एक है। वह मन से भी अधिक तीव्र गतिमान् है। देव भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते। वह उनके गन्तव्य पर पहले ही पहुँचा हुआ (विद्यमान) होता है। वह स्वयं ठहरा हुआ ही दूसरे दौड़नेवालों से आगे ही रहता है, उनका अतिक्रमण कर लेता है। उसकी सत्ता से (उसके आश्रय से) वायु जलवर्षा करने में सक्रिय (समर्थ) होता है।

सन्दर्भ : पहले तीन मंत्रों का एक त्रिक पूर्ण होने पर चौथे और पाँचवें मंत्रों में ब्रह्म (आत्मा, परमात्मा) के स्वरूप और उसकी सर्वव्यापकता एवं अनन्त शक्ति का विवेचन किया गया है। मंत्र के अनेक अन्वय होने पर भी भावार्थ एक ही है।

दिव्यामृत : सम्पूर्ण अस्तित्व का आश्रय एवं आधार चैतन्यस्वरूप परमात्मा है। परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान है। वह कण-कण में व्याप्त अथवा ओतप्रोत है। वह अणु से भी छोटा तथा महीयान् (बड़े) की अपेक्षा भी बड़ा है।[१] नित्य चैतन्यस्वरूप परमात्मा अचल एवं निष्कम्प है। वह समस्त गतिशीलता का आधार होकर भी स्वयं गतिमान् नहीं है। विभु (व्यापक तत्त्व) में क्रिया एवं गति संभव नहीं होती। वह सबका वेत्ता है तथा उसका वेत्ता कोई नहीं है।[२] परमात्मा की सत्ता की अनुभूति होना श्रेष्ठ ज्ञान होता है। अनुभूति के क्षणों में मनुष्य स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, जैसे अग्नि में प्रक्षिप्त काष्ठ अग्नि ही हो जाता है। परमात्मा और जीवात्मा (मनुष्य का मायावृत आत्मा) तत्त्वत: एक ही होते हैं। जो पुरुष उसकी

---

१. **अणोरणीयान् महतो महीयान्** (कठोप० १.२.२०, श्वेत० उप० ३.२०)
—अणु से भी छोटा, बड़े से भी बड़ा।

२. **स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता** (श्वेत० उप० ३.१९)
—वह सब वेद्य को जानता है, उसका वेत्ता (जाननेवाला) कोई नहीं है।

दिव्यानुभूति नहीं करता, वेद की ऋचा के मात्र पढ़ने से क्या लाभ?[१]

परब्रह्म परमात्मा निष्कल, निष्क्रिय तथा सर्वथा शान्त है।[२] जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य नदी आदि के जल में हिलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार निष्क्रिय, विशुद्ध चैतन्य भी जगत् की नानाविध क्रियाओं में क्रियाशील प्रतीत होता है। जो परिच्छिन्न है, उसमें क्रिया होती है, अपरिच्छिन्न में क्रिया संभव नहीं होती।[३] आकाश अपरिच्छिन्न है, किन्तु घटादि उपाधि से उसमें गतिमय होने की प्रतीति हो जाती है। घट में आकाश है, घट को इधर-उधर ले जाने से यह प्रतीत होता है कि उसका आकाश चल रहा है। ब्रह्म तो आकाश की अपेक्षा भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।[४]

परमात्मा की मात्र सत्ता के विद्यमान होने से इन्द्रिय, प्राण आदि सब कुछ ऊर्जित एवं गतिमान् हो जाता है, यद्यपि परमात्मा की नित्य चैतन्यसत्ता सर्वथा निष्क्रिय एवं शान्त होती है, जैसे चुम्बक के निष्क्रिय रहने पर भी लौहखण्ड उसकी मात्र विद्यमानता से गतिमय हो जाते हैं। इन्द्रियों की शक्ति आत्मशक्ति की तुलना में तुच्छ है।[५]

देव, मन और इन्द्रियों की शक्ति सीमित होती है तथा वे असीम परमात्मा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। आत्मा के प्रकाश से मन का प्रकाशन होता है तथा प्रकाशित मन की सहायता से नेत्रादि इन्द्रियाँ

---

१. **यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति** (श्वेत० उप० ४.८)
—जो मनुष्य उसको अनुभूति द्वारा नहीं जानता, मात्र वेदपाठ से क्या लाभ है?

२. **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** (श्वेत० उप० ६.१९)
—परब्रह्म कलाओं से रहित, क्रियारहित, शान्त, निर्दोष तथा निर्मल है।

३. क्रिया पाँच प्रकार की होती है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण आकुंचन, प्रसारण, गमन।

४. **यः आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥** (बृह०उप० ३.७.१२)
—जो(ब्रह्म) आकाश में रहनेवाला आकाश के भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाश का नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

५. केनोपनिषद् के प्रथम खण्ड में आत्मशक्ति के वर्चस्व की सुविस्तृत चर्चा है।

बहिर्जगत् के पदार्थों का दर्शन करती हैं। अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सत्त्वांश से उत्पन्न होनेवाली ये इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं। वे अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं। वे तीव्रता से जहाँ पहुँचती हैं, सर्वव्यापक परब्रह्म वहाँ पहले से ही संस्थित है।

नेत्रादि इन्द्रियाँ ब्रह्म को प्राप्त करने में असमर्थ होती हैं।[१] वह इन्द्रियों से परे है, इन्द्रियातीत है। वह बुद्धिगम्य भी नहीं है, वह केवलमात्र अनुभूति-गम्य है। मन पवित्र होकर उसकी अनुभूति में सहायक हो जाता है।

विश्व की परमसत्ता एक ही है। देहादि विभिन्न उपाधियों के भीतर एक ही चैतन्यतत्त्व विद्यमान है। भिन्नता उपाधियों के कारण प्रतीत होती है, किन्तु पारमार्थिक अथवा तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार काष्ठादि पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु उनमें अग्नितत्त्व एक ही होता है, उसी प्रकार नाम और रूप की विभिन्नता होने पर भी आत्मतत्त्व एक ही होता है।[२] नानात्व (विभिन्नता) मात्र बाह्य है, वास्तविक नहीं है।

प्राणसंचार करनेवाला ऊर्जातत्त्व मातरिश्वा समस्त प्राणियों तथा सूर्य-चन्द्र आदि की गति का भी प्रेरक होता है। मातरिश्वा ही समस्त प्राणियों के कर्मप्रवाह का आधार होता है। मातरिश्वा परमात्मा की चैतन्यसत्ता के आश्रित होकर क्रियाशील होता है। परमात्मा की सत्ता से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। सर्वत्र परमात्मा का ही अधिष्ठान है। सृष्टि की समस्त गतिमयता

१. **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो** (केन उप० १.३)
—वहाँ (ब्रह्म तक) चक्षु, वाणी इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं, न मन ही पहुँच सकता।
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा (कठोप० २.३.१२)
—परम ब्रह्म परमेश्वर को न तो वाणी से, न मन से, न नेत्रों से ही प्राप्त किया जा सकता है।

२. **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥** (कठोप०२.२.९)
—जैसे सर्वत्र एक ही अग्नि है तथा उसमें भेद नहीं है,वैसे ही एक ही अन्तर्यामी परमात्मा सब प्राणियों में व्याप्त है।

का आधार एकमात्र परमात्मा है, कोई अन्य नहीं है। उसी एक परमसत्ता का वर्णन एवं निरूपण मनीषीगण अनेक प्रकार से करते हैं।[१]

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मैं सर्वत्र और सदा, अपने भीतर और बाहर, तेरे निरन्तर विद्यमान होने का अनुभव करके सदाचरण करता रहूँ और निर्भय होकर सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता रहूँ।

दिव्यामृत-सारांश

परमात्मा की चैतन्यसत्ता सम्पूर्ण अस्तित्व का आधार है। हम अपने भीतर ही तथा बाहर विराट् जन-समाज में, पशु-पक्षियों में, वनस्पतियों में और प्रकृति के सौन्दर्य में उसकी सत्ता का अनुभव कर सकते हैं। ●

---

१. **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋग्वेद १.१६४,४६)
—ज्ञानीगण उसी एक का ही वर्णन अनेक प्रकार से करते हैं।
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥ (अथर्ववेद १३.४.१६,१७,१८,२०)—ईश्वर एक ही है। उसे दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ नहीं कहा जा सकता।
हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (ऋग्वेद ८.७.३.१)
—सब भूतों का स्वामी एक ही है।
न किं इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्। न क्येवं यथा त्वम्॥ (सामवेद २०३)—हे परमात्मन्, तेरे से बढ़कर कोई अन्य नहीं है।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः (गीता १३.१७)
ज्योतिषां ज्योतिरेकं (यजुर्वेद ३४.१)—वह एक सब ज्योतियों की ज्योति है।
सभी उपनिषदों में अनेक मंत्र एकेश्वरवाद के समर्थक हैं।
"In the eyes of the Hindus, there is but one Supreme God. This was stated long ago in the Rigveda (**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**) which may be translated—The sages name the One Being variously"—Earnestwood in 'An Englishman defends Mother India.

मन्त्र ५

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

शब्दार्थ : तत् = वह (ब्रह्म); एजति = चलता है; न एजति = नहीं चलता; तत् = वह; दूरे = दूर से भी दूर है; तत् = वह; अन्तिके = अत्यन्त निकट है; तत् = वह; अस्य सर्वस्य = इस सबका, इस जगत् का; अन्तः = भीतर (है); तत् = वह; अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः = इस सबके (इस जगत् के) बाहर भी (है)।

वचनामृत : परमात्मा चलता है, वह चलता नहीं है। वह दूर से भी दूर है, वह निकट से भी निकट है। वह इस सब (जगत्) के भीतर (परिपूर्ण) है, वह इस सब (जगत्) के बाहर भी है।

सन्दर्भ : प्रकारान्तर से परमात्मा की व्यापकता तथा रहस्यमयता का पुनः वर्णन है। यह चौथे मंत्र की पुनर्व्याख्या है।

दिव्यामृत : परब्रह्म परमात्मा गतिमान् है तथा गतिरहित भी है। परमात्मा विश्व के भीतर है तथा बाहर भी है। विरोधाभास का उद्देश्य विरोधों के पृष्ठ में सन्निहित एक विशेष अन्तर्भाव का प्रतिपादन करना होता है। परमात्मा विभु है और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है तथा उसका आधार है। वह गतिशून्य होकर भी गतिमान् प्रतीत होता है। उसकी सामर्थ्य असीम है।[१]

परमात्मा के मात्र ईक्षण (दैवी इच्छा अथवा दैवी संकल्प) से प्रकृति में गति उत्पन्न हो जाती है।[२] इच्छा गति का पूर्वरूप होती है तथा गति

---

१. **बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु करम करइ विधि नाना।**
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।

२. **स ईक्षत** (ऐतरेय उप० १.३.१) —उसने इच्छा की।
Will or thought precedes motion. Motion or an act is a projection of the will.

(क्रिया) इच्छा का प्रक्षेपण (प्रोजेक्सन) होती है। मनुष्य भी पहले इच्छा करता है, तत्पश्चात् गतिमय होकर कर्म करता है। ईश्वर स्वयं अविचल होकर भी गति का कारण होता है।[१]

परमात्मा दूर से भी दूर है तथा निकट से भी निकट है। ऐसा कहने का भी तात्पर्य यह है कि परमात्मा सर्वव्यापक है। वह सम्पूर्ण चर और अचर में व्याप्त है। परमात्मा दूरस्थ होकर भी हमारे भीतर संस्थित है अर्थात् सन्निकट है।[२] यह परमात्मा की अनिर्वाच्य महिमा है।[३]

परमात्मा हमारे भीतर अन्तर्गूढ है।[४] ज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धि से अपने भीतर ही उसकी खोज करके उसे प्राप्त करते हैं।[५] मात्र प्रवचन करने और सुनने से आन्तरिक अनुभूति नहीं हो जाती।[६] अहंकार की निवृत्ति होने पर

---

१. 'God is merely the Source of movement, the First Mover Who Himself is never moved." —Aristotle—The Age of Aristotle.'

२. **बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।**
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (गीता १३.१५)
—वह परमात्मा चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर (परिपूर्ण) है और चर-अचर रूप भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर स्थित वही है।
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः (कठोप० १.२.२१)
—वह बैठा हुआ दूर चला जाता है, वह सोता हुआ सब ओर चलता है।

३. **एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः** (यजुर्वेद ३१.३)
—यह सारा विश्व उसकी महिमा है, वह इससे भी बहुत बड़ा है।

४. **आत्मा सर्वान्तरः** (बृह० उप० ३.४.२)—**वह सबके भीतर है।**

५. **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठोप० १.२.२४)
—वह मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, जो पापाचरण से निवृत्त नहीं हुआ अथवा जो अशान्त है और जिसके मन और इन्द्रियाँ संयत (नियंत्रित) नहीं हैं। शुद्ध और शान्त बुद्धि द्वारा उसका अनुभव होना संभव है।

६. **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ (कठोप० १.२.२३)

तथा अन्तःकरण के निर्मल होने पर परमात्मा का साक्षात्कार (अनुभव) हो जाता है।

परमात्मा निष्कल, निष्क्रिय और सर्वथा शान्त है, यद्यपि वह उपाधियुक्त होने पर सक्रिय प्रतीत होता है, जैसे आकाशस्थित अकम्पित सूर्य नदी के जल में प्रकम्पित प्रतीत होता है। आत्मा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने पर (अन्तःकरण की चंचलता के कारण) चंचल प्रतीत होता है।

आत्मज्ञानी के लिए आत्मा अपना ही यथार्थस्वरूप होने के कारण समीप ही है। आत्मा का साक्षात्कार हृदयस्थित गुहा में होता है। ज्ञानी और ध्यानी पुरुष ज्योतिस्वरूप आत्मा का हृदय में विशेष अनुभव करते हैं। चक्षु आदि से उसे देख नहीं सकते। ज्ञान से उसका बोध होता है तथा ध्यान से उसका साक्षात्कार एवं अनुभव होता है। वह ज्योतिस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है। ध्यानयोगी उसकी दिव्य ज्योति में निमग्न होकर उसकी दिव्यानुभूति (आनन्दानुभूति) कर लेते हैं। दहरविद्या ने इसका रहस्यनिरूपण किया है। परमात्मा की दिव्य ज्योति अपने भीतर ही दिव्य ब्रह्मपुर में स्थित है। ऋषिगण ने इसका पर्याप्त वर्णन किया है।[१]

—आत्मा (परब्रह्म परमात्मा) प्रवचन, मेधा, श्रवण से प्राप्त नहीं होता। सत्पात्र होने पर परमात्मा स्वयं को प्रकट कर देता है।

१. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति॥ (मुण्डक उप० २.२.७)

—वह परमात्मा दिव्य ब्रह्मपुर में प्रतिष्ठित है।
हृदयपुर में शयन करने के कारण उसे 'पुरुष' भी कहते हैं।
अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म (छान्दोग्य उप० ८.१.१)
—दहर (अत्यन्त सूक्ष्म आकाश) में परमात्मा का निवास है।
स्वामी दयानन्दजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'उपासना-विषय' अध्याय में

अन्त:करण के शुद्ध होने पर मन पारदर्शक हो जाता है तथा ब्रह्मात्मैक्य (ब्रह्म और आत्मा की एकता) की अनुभूति में सहायक हो जाता है। आवरण के दूर होने पर स्वयंप्रकाश आत्मा स्वत: प्रकाशित हो जाता है तथा मनसहित अन्त:करण विलुप्त अथवा विलीन हो जाता है। मानव का अपना मूल स्वरूप वास्तव में सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। आत्मा निर्बन्ध और मुक्त तो है ही; केवल उसके स्वरूप का साक्षात्कार दिव्य अनुभूति के रूप

लिखा—''कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसका मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।''

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेत उप० १.३)

—ऋषियों ने ध्यानयोग द्वारा उस परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया, जो अकेला ही विश्व पर शासन करता है।

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥

(मुण्डक ३.१.७)

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

(मुण्डक ३.१.८)

—वह ब्रह्म महान्, दिव्य और अचिन्त्य है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होकर प्रकाशित है। वह दूर से दूर है और देह में रहकर अतिसमीप है वह देखने-वालों के भीतर ही हृदयगुहा में विराजमान है। वह न नेत्रों से , न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से ग्राह्य है, तप और कर्म से भी ग्राह्य नहीं है। उस निष्कल (अवयवरहित) परमात्मा को शुद्धअन्त:करणवाला ज्ञानी ध्यान द्वारा देख लेता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा (कठोप० २.३.१२)

—उसे वाणी, मन और नेत्र से नहीं देख सकते।

में होता है।[१] ब्रह्माकार-वृत्ति होने पर ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति होना परम साध्य एवं परम उपलब्धि है। वह अविनाशी परम तत्त्व भीतर, बाहर, सर्वत्र व्याप्त एवं विद्यमान है, किन्तु उसकी दिव्यानुभूति अपने भीतर ही होती है।

प्रार्थना

हे परमात्मान्, ऐसी कृपा कीजिये कि मैं अपने भीतर आपके ज्योतिर्मय स्वरूप का दर्शन कर लूँ।

मन्त्र ५ — दिव्यामृत-सारांश

परमात्मा की शक्ति अचिन्त्य है। वह गतिशून्य एवं निष्क्रिय होकर भी गतिमान् और सक्रिय प्रतीत होता है। वह दूर भी है और समीप भी तथा बाहर भी है और भीतर भी। अपने भीतर अनुभूति होने पर वह सर्वत्र विद्यमान दिखाई देने लगता है। ●

---

१. **विमुक्तश्च विमुच्यते** (कठोप० २.२.१)
—विमुक्त तो है ही, विमुक्तता सिद्ध एवं स्पष्ट हो जाती है।

मन्त्र ६

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

शब्दार्थ : तु य = और जो, परन्तु जो; सर्वाणि भूतानि = सब प्राणियों को; आत्मनि एव = आत्मा में ही; अनुपश्यति =निरन्तर देखता है; च = और; सर्वभूतेषु = सब प्राणियों में; आत्मानं = आत्मा को (देखता है); तत = उसके पश्चात्, उस कारण से; न विजुगुप्सते = जुगुप्सा (घृणा) नहीं करता।

वचनामृत : जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा (परमात्मा) में देखता है तथा आत्मा (सर्वान्तर्यामी परमात्मा) को प्राणिमात्र में देखता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता।

सन्दर्भ : मंत्र छह और सात परस्पर जुड़े हुए हैं। यह सर्वत्र समदर्शन है।

दिव्यामृत : सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् का आधार एवं आश्रय एक चैतन्य- सत्ता है, जिसके स्वरूप एवं गुणों का अनेक नामों से तथा अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। वही एक निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार है। सारे जगत् में व्याप्त होनेवाली सर्वोपरि चैतन्यसत्ता को मात्र स्वीकार कर लेने से मनुष्य के चिन्तन, वचन और व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। मनुष्य की जैसी दृष्टि होती है, उसे वैसी ही सृष्टि हो जाती है अथवा प्रतीत होती है। ज्ञानी पुरुष के लिए सृष्टि मंगलमय प्रतीत होती है तथा उसे सर्वत्र और सर्वदा मंगलमय परमात्मा का दर्शन होता है।

जिस प्रकार तरंगों का आधार जल है, वृक्षों का आधार पृथ्वी है, उसी प्रकार जगत् का आधार ईश्वर है। जिस प्रकार जल से उत्पन्न तरंग जल में स्थित रहती है, उसी प्रकार जगत् परमात्मा में स्थित रहता है तथा जिस

प्रकार तरंग जल से ओतप्रोत रहती है, उसी प्रकार जगत् परमात्मा से ओतप्रोत रहता है। जगत् के सम्पूर्ण भूत (चर और अचर, सचेतन प्राणी और जड पदार्थ) परमात्मा में ही स्थित होते हैं। ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा में स्थित देखता है तथा सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा को स्थित देखता है। तत्त्ववेत्ता सब प्राणियों को अपने में तथा अपने को सम्पूर्ण प्राणियों में देखता है।[१] मैं सबमें हूँ तथा सब मुझमें हैं। ज्ञानी पुरुष सब प्रकार के सन्देह, संशय और भ्रम से मुक्त हो जाता है तथा कोई निन्दनीय आचरण नहीं करता।

ज्ञानी पुरुष अन्य प्राणियों में सर्वान्तर्यामी परमात्मा को देखने के कारण समदर्शी हो जाता है। समदर्शी पुरुष विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मण, गौ, श्वान और चाण्डाल के प्रति समान प्रेमभाव रखता है।[२] वह सबको मित्रभाव से

---

१. **यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ (गीता ४.३५)
ज्ञानयोग को जानकर तू फिर इस प्रकार के मोह को प्राप्त नहीं होगा, जिस ज्ञानयोग के द्वारा अपने भीतर सब भूतों को देखेगा, फिर परमात्मा में देखेगा।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (गीता ६.२९)
—समदर्शी अपने को सम्पूर्ण भूतों में तथा सम्पूर्ण भूतों को अपने में देखता है।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६.३०)
—जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा को और सम्पूर्ण भूतों को परमात्मा में देखता है, उसके लिए न परमात्मा दूर है, न वह परमात्मा के लिए दूर है।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६.३२)
—जो अपने सदृश सम्पूर्ण भूतों को (समभाव से) देखता है और सुख-दुःख में भी सम है, वह श्रेष्ठ योगी है।

२. **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता ५.१८)
—ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मण में, गौ और हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी होते हैं।

देखता है।[1] उसके लिए न कोई छोटा है, न कोई बड़ा ही है। वह किसीके प्रति द्वेष नहीं करता तथा सबके प्रति मित्रतापूर्ण, करुणापूर्ण और ममत्वरहित एवं अहंकाररहित होता है। वह सहज क्षमाशील होता है तथा दुःख-सुख में सम रहता है।[2]

सभी के भीतर एक ही दिव्यज्योति प्रतिष्ठित है तथा सभी परमात्मा के समान अंश होने के कारण अमृतपुत्र हैं।[3] परमात्मा घटघटवासी है। सभी प्राणी मानो देवमन्दिर हैं। ज्ञानी पुरुष सबके प्रति प्रेमपूर्ण रहता है तथा किसीसे घृणा नहीं करता।[4] पाप से घृणा की जाती है, पापी से नहीं।[5] घृणा से क्रोध एवं हिंसा का प्रादुर्भाव होता है तथा मनुष्य बर्बर पशु हो जाता है। घृणा जीवनधारा को विषाक्त एवं कटु बना देती है। मनुष्य घृणा और क्रोध को छोड़कर ही शीलवान् एवं विनयपूर्ण हो सकता है। उत्तम पुरुष किसीको उद्विग्न नहीं करता[6] तथा मन, वचन और कर्म से सबको सुखी

---

१. **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे** (यजुर्वेद ३६.१८)
—मैं सब प्राणियों को मित्र-दृष्टि से देखूँ।

२. **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ (गीता १२.१३)
—भक्त सब भूतों के प्रति द्वेषरहित, मैत्रीपूर्ण, करुणापूर्ण, स्वार्थरहित, अहंकाररहित तथा दुःख-सुख में सम और क्षमाशील होता है।

३. **अमृतस्य पुत्राः** (ऋग्वेद १०.१३.१), (यजुर्वेद ११.५), (श्वेत० उप० २.५), सभी सच्चिदानन्द परमात्मा की सन्तान हैं।

४. '**ततो न विजुगुप्सते**' का पाठान्तर '**ततो न विचिकित्सति**' भी है, जिसका अर्थ है—वह फिर किसी प्रकार का संशय नहीं करता।

५. पाप से घृणा करो, पापी से नहीं; Hate the sin, not the sinner.
—गांधीजी

६. **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।** (गीता १२.१५)
उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः (अध्यात्मरामायण)
—मेरे लिए सब ब्रह्म ही है, कौन मित्र और कौन मेरा शत्रु है?

करने का प्रयत्न करता है। सर्वत्र समदर्शन करने का व्यावहारिक अर्थ सर्वत्र प्रेमपूर्ण व्यवहार करना है। प्रेम एक प्रकाश है तथा प्रेम की शक्ति एवं प्रभाव अकल्पनीय होते हैं। प्रेम अद्वैत एवं अभेद है। द्वैत से भेद उत्पन्न होता है। द्वैत से ही भय उत्पन्न होता है।[१] अद्वैतभाव होने पर सबके कल्याण की सच्ची कामना करना संभव होता है।[२] सबके कल्याण में ही मेरा अपना कल्याण भी सन्निहित है। दुःख देने से दुःख उपजता है तथा सुख देने से सुख मिलता है। नाम और रूप का भेद होते हुए भी सम्पूर्ण जीवन एक है तथा दिव्य है।

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मुझे ऐसी बुद्धि प्रदान कीजिये कि मैं सब प्राणियों को अपने में तथा अपने को सब प्राणियों में देखूँ तथा किसीसे भी घृणा न करूँ।

दिव्यामृत-सारांश

एक ही परमात्मा सब प्राणियों में है। इस प्रकार, सूक्ष्मदृष्टि से, सब प्राणी मेरे आत्मा में (मेरे भीतर) हैं और मैं सबके भीतर हूँ। अतः किसीसे भी घृणा करना परमात्मा से तथा स्वयं से घृणा करना है।

घृणा मन को दूषित और दुर्बल कर देनेवाला विकार है। पहले मंत्र में लोभ के त्याग का तथा छठे मंत्र में घृणा के त्याग का उपदेश है। जीवन में शान्ति प्राप्त करने के लिए तथा अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ने के लिए लोभ और घृणा का त्याग कर देना चाहिए। किसी कर्म में लोभ और घृणा से प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। प्रेम, करुणा और उदारता को अपनाने से मनुष्य की चेतना का विकास होता है। ●

---

१. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ (गीता १२.१५)
—जिससे कोई उद्विग्न नहीं होता, जो स्वयं उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगों से मुक्त है, वह भगवान् को प्रिय होता है।

२. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

मन्त्र ७

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७ ॥

शब्दार्थ : यस्मिन् = जिस अवस्था में, जिस स्थिति में, जिस काल में, जब; विजानतः = विशेष ज्ञानी पुरुष का (ज्ञानी पुरुष के अनुभव में, विचार में); सर्वाणि भूतानि = सब प्राणी; आत्मा = परमात्मा; आत्मा एव = आत्मा ही; अभूत् = हो गये होते हैं, हो चुके होते हैं; तत्र = उस अवस्था में; एकत्वं अनुपश्यतः = एकत्व (सर्वत्र एक परमात्मा है) का निरन्तर अनुभव करनेवाले (पुरुष का, पुरुष के लिए, पुरुष को); कः मोहः कः शोक = कौन मोह, कौन शोक?

वचनामृत : जिस अवस्था में परमात्मा का विशेष ज्ञान होनेवाले पुरुष के लिए सम्पूर्ण प्राणी एकमात्र परमात्मा ही (परमात्मस्वरूप ही) हो चुकते हैं, उस अवस्था में एकत्व का (एकमात्र परमात्मा के होने का) निरन्तर दर्शन (अनुभव) करनेवाले पुरुष के लिए कौनसा मोह, कौनसा शोक (रहता है)?

सन्दर्भ : यह मंत्र छठे मंत्र का विस्तार है। इसमें छठे मंत्र की स्थिति के बाद पूर्णबोध एवं सद्योमुक्ति (तुरन्त मुक्ति) की स्थिति का वर्णन है। ये दोनों मंत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। इस मंत्रद्वय में ज्ञानी की उच्चस्तरीय मानसिक अवस्था का वर्णन है।

दिव्यामृत : वह ज्ञानी पुरुष, जो सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में तथा आत्मा को सब प्राणियों में देखता है (अथवा जो मनुष्य सबको अपने में और सबमें अपने को) देखता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता। इससे भी बढ़कर उस विशेष ज्ञानी पुरुष की अवस्था है, जिसके लिए सम्पूर्ण प्राणी एकमात्र परमात्मा ही हो जाते हैं तथा जो सब प्राणियों को परमात्मस्वरूप

समझता है। यह एकत्व (एकीभाव) में स्थित होना है।[१] यही सर्वात्मदर्शन अथवा सर्वात्मभाव है। यही अभेददर्शन है। परम ज्ञानी स्वयं और सबमें भेद नहीं करता तथा सर्वत्र परमात्मा के अस्तित्व का निरन्तर अनुभव करता है। तत्त्वज्ञानी के लिए परमात्मा के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है।[२] यह तत्त्वज्ञानी की सर्वोच्च अवस्था है। वास्तव में यह मात्र तत्त्वज्ञान ही नहीं है, बल्कि तत्त्वनिष्ठा है। यह ज्ञानी की परिपक्व अवस्था है, जो सुदीर्घकाल तक चिन्तन, मनन और अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। परम ज्ञानी देह तथा इन्द्रियों से अतीत (परे, ऊपर) हो जाता है तथा वह अपने भीतर आत्मानन्द में रहने लगता है। उसे ब्रह्मात्मैक्य (ब्रह्म और आत्मा एक हैं तथा सब कुछ ब्रह्म ही है) की अनुभूति हो जाती है। अविचल शिवस्वरूप प्राप्त होने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है।[३] निजात्मानन्द में लीन तत्त्वनिष्ठ ज्ञानी दुर्लभ होता है।

विभिन्न स्वर्णाभूषणों में स्वर्ण को ही देखना, मृण्मय-पात्रों में मृत्तिका (मिट्टी) को ही देखना अथवा सम्पूर्ण भूतों (चर और अचर, चेतन और जड) में परमात्म-तत्त्व को ही देखना तत्त्वदर्शन है। सर्वत्र चैतन्यसत्ता का अनुभव करना आनन्द की उपलब्धि करना है। परमात्म-दर्शन से हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है।[४]

---

१. **सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।**
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (गीता ६.३१)
—जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह योगी सब कुछ करता हुआ परमात्मा में ही स्थित रहता है।

२. **मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन** (कठोप० २.१.११)
—परमात्म-तत्त्व जानने के योग्य है। इस जगत् में एक परमात्मा के अतिरिक्त अथवा उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

३. **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** (मुण्डक उप० ३.२.९)—ब्रह्म को तत्त्वतः जान लेनेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।

४. **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक उप० २.२.८)

वास्तव में इस जगत् में नाम और रूप की विभिन्नता होने के कारण नानात्व (विभिन्नता) दीखती है। इस नानात्व के पृष्ठ में एक ही चैतन्य-सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, जो इस जगत् का आधार एवं आश्रय है। तत्त्वज्ञानी अनेकता में सर्वत्र परमतत्त्व की एकता को देखता है तथा वह अनुभव करता है कि एक चैतन्यसत्ता ही नित्य है और परम सत् है। तत्त्वत: यह सब आत्मा ही है, सब कुछ ब्रह्म ही है।[१] अपने भीतर आत्मज्ञान का प्रकाश होने पर सब कुछ स्वयं परमात्मा ही एकमात्र सत् तत्त्व दीखने लगता है।[२]

आत्मज्ञान के प्रकाश में अविद्या एवं अहंकार की निवृत्ति हो जाती है तथा मोह और शोक का अन्धकार विलुप्त हो जाता है। आत्मानन्द का अनुभव होने पर मोह और शोक मिथ्या एवं मात्र भ्रम प्रतीत होने लगते हैं। बहिर्जगत् का अन्धकार बाह्य प्रकाश से तथा आन्तरिक अन्धकार आन्तरिक प्रकाश से ही दूर हो सकता है। आनन्द परिपूर्ण होने पर मोह और शोक की छाया भी नहीं रहती।

मोह विकारों के कटक का सेनापति है। सारे विकार मोह से ही उत्पन्न होते हैं। मोह मन की व्याधियों का मूल है।[३] तत्त्ववेत्ता ज्ञानी मोहजनित कामनाओं से मुक्त हो जाता है।[४] वह मोह, शोक आदि मनोविकारों से और

—अपने भीतर परात्पर ब्रह्म की दिव्यानुभूति होने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय मिट जाते हैं और सब कर्मों का क्षय हो जाता है।

१. **आत्मैवेदं सर्वम्** (छान्दोग्य उप० ७.२५.२)—सब कुछ परमात्मा अथवा ब्रह्म ही है।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्य उप० ३.१४.१) —सब कुछ ब्रह्म ही है।

२. **वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:** (गीता ७.१९)—यह सब परमात्मा ही है, ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।
सीय राममय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

३. **मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।**

४. **कामान् य: कामयते मन्यमान: स कामभिर्जायते तत्र तत्र।** (मुण्डक ३.२.२)
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा:। (मुण्डक ३.२.२)

पुण्य-पाप के जाल से भी मुक्त हो जाता है। मोह के कारण सांसारिक इच्छाओं का विस्तार हो जाता है।

इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता तथा एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म दे देती है। मात्र इच्छा-पूर्ति होने से शान्ति प्राप्त नहीं होती। कामनाओं के शमन एवं त्याग से ही शान्ति होती है।[1] कामरूप राक्षस को जीत लेने से ही मन स्थिर और शान्त होता है।[2] आत्मज्ञान एवं सन्तोष के बिना कामना का शमन नहीं होता।[3]

कामना से ही आशंका, निराशा, भय, चिन्ता, द्वेष, क्रोध और शोक उत्पन्न होते हैं। मोह और शोक तो मानो सहोदर हैं। मोह और शोक का अन्धकार मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देता है और मनुष्य अपने भीतर

—भौतिक कामनाओं के कारण मनुष्य भटक जाता है तथा ज्ञानी की कामनाएँ सर्वथा विलीन हो जाती हैं।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्यो अमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुतः॥

(बृह० उप० ४.४.७, कठोप० २.३.१४)

—जब मनुष्य की सब कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं मानव-देह में ही ब्रह्म की आनन्दानुभूति कर लेता है।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् (बृह० उप० ४.४.१२)

—आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी क्या इच्छा करे और किस कामपूर्ति के लिए शरीर में कष्ट उठाये?

१. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (गीता २.७०)
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २.७१)
—कामना शान्त होने पर मनुष्य का मन समुद्र की भाँति शान्त हो जाता है। सारी कामनाओं को छोड़कर ही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है।

२. जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् (गीता ३.४३)—हे महाबाहो, कामरूप भयानक शत्रु को नष्ट कर दे।

३. बिनु सन्तोष न काम नसाहीं।

ही यंत्रणा के भयानक कष्ट का अनुभव करता है।

शोक को दूर करने का एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है, अन्य उपाय कुछ नहीं है। मोह के कारण मनुष्य भ्रमपूर्वक किसी पर स्वामित्व एवं अधिकार मान लेता है तथा उसके छूट जाने पर शोकसागर में डूब जाता है। ब्रह्मज्ञानी शोकसागर को पार कर लेता है तथा पापसमुदाय को भी पार कर लेता है और अमृतमय हो जाता है।[१] अध्यात्मयोग के प्राप्त होने पर मनुष्य हर्ष और शोक को त्याग देता है।[२] ब्रह्मभूत पुरुष न शोक करता है, न कुछ कामना करता है।[३] केवल आत्मज्ञान होने पर ही मनुष्य शोक को पार कर सकता है।[४] आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर तथा आत्मस्वरूप में संस्थित होने पर, आनन्दानुभूति की उपलब्धि हो जाती है तथा मोह और शोक विलुप्त हो जाते हैं। यह मानवीय चेतना का उत्कर्ष है।

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं अपने भीतर

---

१. **तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति** (मुण्डक उप० ३.२.९)
—ब्रह्मज्ञानी शोक को पार कर लेता है, पापसमुदाय को पार कर लेता है, हृदय-ग्रन्थियों से विमुक्त होकर अमृत हो जाता है।

२. **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवो मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति** (कठोप० १.२.१२)
—अध्यात्मयोग के प्राप्त होने पर धीर हर्ष और शोक को त्याग देता है।

३. **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति** (गीता १८.५४)
—ब्रह्मज्ञानी प्रसन्न पुरुष न शोक करता है, न कुछ कामना करता है।

४. **तरति शोकमात्मवित्** (छान्दोग्य उप० ७.१.३)
—आत्मज्ञानी शोक को पार करने में समर्थ होता है। यह छान्दोग्य उपनिषद् की कथा है कि नारद सनत्कुमार के पास गये और बोले—'मैंने चारों वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पितृपूजा, गणित विज्ञान, दैवविज्ञान, कोषविज्ञान, तर्कविज्ञान, राजनीति, नीति, वेदविज्ञान, पदार्थविज्ञान, युद्धविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पों और देवों की विद्या को जान लिया, मैंने मंत्रविद्या भी जान ली, किन्तु आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, आत्मज्ञान से ही मनुष्य शोक को पार करता है; मुझे आत्मज्ञान देकर शोकमुक्त कीजिये।' सनत्कुमार ने नारद को आत्मज्ञान देकर शोकमुक्त किया।

आत्मज्योति का साक्षात्कार कर लूँ तथा मोह एवं शोक से सर्वथा मुक्त हो जाऊँ।

दिव्यामृत-सारांश

तत्त्वज्ञान होने पर सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही परमात्मा का अस्तित्त्व दीखने लगता है तथा नाम और रूप के आधार पर प्रतीत होनेवाली विभिन्नता गौण हो जाती है। ज्ञान-दृष्टि होने पर नश्वर स्थूल जगत् के पृष्ठ में नित्य परमात्म-तत्त्व की सत्ता प्रतिष्ठित हो जाती है। नश्वर और नित्य अथवा अनात्म और आत्म का भेद स्पष्ट होने पर, अन्ततोगत्वा 'सब कुछ ब्रह्म ही है' यह अनुभव होने लगता है। सर्वत्र एकत्व-दर्शन (एक परमात्मा का ही अनुभव) होने पर मोह और शोक की छाया भी नहीं रहती। एक परमात्मा ही सत् है, अन्य सब असत् है। वही एक ध्येय एवं प्राप्तव्य है।

●

मन्त्र ८

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ : सः = वह (परम पुरुष, परमात्मा); परि अगात् = सब ओर गया हुआ, सर्वव्यापी; शुक्रम् = निर्मल, ज्योतिष्मान्, तेजोमय; अकायम् = शरीररहित; अव्रणम् = अक्षत, छिद्ररहित, पूर्ण; अस्नाविरम् = स्नायुरहित, जिसमें नस, नाड़ी, शिराएँ न हों; शुद्धम् = दोषरहित, निर्विकार; अपापविद्धम् = वह निष्पाप है तथा धर्म-अधर्म से परे है; कविः = सर्वद्रष्टा, क्रान्तदर्शी; मनीषी = मन का शासक, सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप; परिभूः = सर्वोच्च, सर्वोपरि, सर्वोत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ, सर्वनियन्ता; स्वयंभूः = स्वतंत्र सत्तावाला; शाश्वतीभ्य समाभ्यः = अनादिकाल से (अनन्तकाल के लिए); याथातथ्यतः = यथार्थ प्रकार से; अर्थान् = पदार्थों को, कर्तव्यों को; व्यदधात् = किया, रचित किया तथा पदार्थों के विभाग कर दिये। रचना में विभाजन होता है।

वचनामृत : वह परमात्मा सब ओर गया हुआ (व्याप्त) है; वह ज्योतिष्मान्, शरीररहित, अक्षत, स्नायुरहित, शुद्ध, पाप से परे, क्रान्तदर्शी, सर्वोपरि, स्वयंभू है; उसने यथार्थ प्रकार से पदार्थों की रचना की एवं उनके विभाग किये।

सन्दर्भ : यहाँ परमात्मा की विशेषताओं अथवा गुणों का वर्णन है। मंत्र ४, ५ में 'तद्' से वाच्य निर्गुण निराकार ब्रह्म का तथा यहाँ 'सः' से वाच्य सगुण निराकार परमेश्वर का वर्णन है। परमात्मा निर्गुण निराकार के रूप में ध्येय है तथा सगुण निराकार के रूप में उपास्य है।

दिव्यामृत : सर्वोच्च चैतन्यसत्ता अत्यन्त सूक्ष्म एवं निराकार है। उसका स्वरूप सर्वथा अचिन्त्य एवं अकल्पनीय है। वह मनुष्य की आकृति में पाँचवें, सातवें अथवा अन्य किसी आकाश पर बैठकर संसार का नियंत्रण

नहीं करता। उसका कोई स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारणदेह नहीं है। देह में व्रण (घाव) हो सकते हैं। देह में स्नायुजाल होता है। परमात्मा तो कायारहित, क्षतरहित, स्नायुरहित है। उसकी कोई इन्द्रियाँ भी नहीं हैं।[१] वह सब ओर व्याप्त है। परमात्मा ज्योतिष्मान् है तथा नितान्त निर्मल है। वह तेजोमय है। वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप एवं निर्विकार है। वह मनुष्य की भाँति पापविद्ध नहीं होता। वह पुण्य और पाप अथवा धर्म और अधर्म से परे है। वह सब प्रकार से शुद्ध और ज्योतिर्मय है।

परमात्मा सभी देश और काल में विद्यमान एक दिव्य एवं नित्य चैतन्यसत्ता है। वह सर्वत्र व्याप्त है।[२] वह विश्वरूप एवं विश्वधाम है![३] प्राणियों के सभी अगणित सिर, नेत्र, पैर उसीके हैं।[४] उस परम पुरुष के हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान सर्वत्र हैं।[५] उसका कोई भी वेत्ता नहीं है।[६] परमात्मा बुद्धि से ग्राह्य नहीं है। इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे है।[७] तथा योगी अपने भीतर ही उसका साक्षात्कार करते हैं।[८]

परमात्मा कवि है अर्थात् क्रान्तदर्शी एवं सर्वद्रष्टा है। वह स्वयं ब्रह्माण्ड

---

१. **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्** (श्वे० उप० ३.१७)—वह इन्द्रियरहित है।

२. **सविता पश्चात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात्।** (ऋग्वेद १०.३६.१४)
—सर्वोत्पादक परमात्मा पीछे, आगे, ऊपर, नीचे सर्वत्र है।
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम् (श्वेत० उप० ६.२)
—यह सब कुछ उससे सदा ही व्याप्त है।

३. **विश्वरूपम्** (श्वेत० उप० ६.५), **विश्वधाम** (श्वेत० उप० ६.६)

४. **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्** (श्वेत० उप० ३.१४)
—परम पुरुष सहस्र शिर, नेत्र, पैरवाला है। यह मंत्र कई वेदों में भी है।

५. **सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।** (श्वेत० उप० ३.१६)
—उस परम पुरुष के हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान सर्वत्र हैं।

६. **न च तस्यास्ति वेत्ता** (श्वेत० उप० ३.१९)—उसको जाननेवाला कोई नहीं है।

७. **यो बुद्धेः परतस्तु सः** (गीता ३.४२)—परमात्मा बुद्धि से परे है।

८. **योगिभिर्ध्यानगम्यं**—योगियों के लिए वह ध्यानगम्य है।

को हस्तामलकवत् (हाथ में रखे हुए आँवले की भाँति) देखता है। यह विश्व उसकी श्रेष्ठ काव्यकृति है, जो नितनूतन रहती है।[1]

परमात्मा कवि ही नहीं, मनीषी भी है। वह सर्ववेत्ता (सर्वज्ञ) है। वह सबके मनों का शासक, सर्वान्तर्यामी है। सृष्टि के चमत्कार उसकी विलक्षण मनीषा के परिचायक हैं। मन पर शासन करनेवाला तथा चेतना को ऊर्ध्वगामी बनानेवाला वरपुरुष भी मनीषी हो जाता है।

परमात्मा परिभू है। वह चारों ओर विद्यमान है तथा सर्वोपरि चैतन्य-सत्ता है। उससे बढ़कर अन्य कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति भी परमात्मा की सत्ता से ही सक्रिय रहती है।

परमात्मा स्वयंभू है। उसकी नितान्त स्वतंत्र सत्ता है। वह सब कारणों का प्रथम कारण है तथा अन्तिम सत्य है। वह परम सत् है।[2] उससे सम्पूर्ण भूत (सम्पूर्ण प्राणी) उत्पन्न हुए तथा उसीमें विलीन होते हैं।[3] परमात्मा का कोई स्वामी नहीं है।[4] वह स्वयं अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है।[5]

परमात्मा ने अनादिकाल से ही सृष्टि के संचालन के लिए यथातथ्य रूप से (उचित प्रकार से) सम्पूर्ण पदार्थों की रचना एवं उनकी विभाग-

---

१. **देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति** (अथर्ववेद १०.८.३२)—परमात्मा के इस काव्य (विश्व तथा वेद) को देखो, जो न मरता है, न जर्जर होता है।

२. First Cause, Uncaused Cause, Ultimate Reality, Supreme Reality.

३. **जन्माद्यस्य यतः** (ब्रह्मसूत्र १.१.२)—जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अपनी अलौकिक शक्ति से इस जगत् की रचना करता है तथा धारण, पोषण करता है।
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म। (तैत्ति० उप० ३.१)—ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होकर, जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में विलीन होते हैं, उसे जानने की इच्छा करो। वही ब्रह्म है।

४. **न तस्य कश्चित् पतिरस्य लोके** (श्वेत० उप० ६.९)—उसका कोई स्वामी नहीं है।

५. **स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः** —परमात्मा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है।

व्यवस्था की है।[१] यह परमात्मा की विलक्षणता है। प्रकृति तथा प्राणि-जगत् का एक महत्त्वपूर्ण तारतम्य है तथा दोनों का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। मनुष्य पर्यावरण की सुरक्षा करके जीवनचक्र को सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित करने में सहयोग दे सकता है तथा जीवन को समृद्ध एवं सुखी कर सकता है। यह विभाग-व्यवस्था में अन्तर्निहित परस्पर तारतम्य है।

प्रार्थना

हे परमात्मन्, ऐसी कृपा कीजिये कि मैं आपके प्रसाद से निर्मल, तेजोमय, शुद्ध और मनस्वी बन सकूँ तथा उचित प्रकार से अपने कर्तव्यों का विभाग करके उनका पूर्ण निर्वाह कर सकूँ।

दिव्यामृत-सारांश

परमात्मा सर्वव्यापी तथा निराकार है। वह ज्योतिस्वरूप है तथा शुभ और अशुभ से परे है। परमात्मा सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोच्च तथा अपनी सत्ता में स्वयं प्रतिष्ठित है। उसने सृष्टि-पालन के लिए पदार्थों की रचना करके उनका समुचित विभाग कर दिया। उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था अद्भुत है।

---

१. इसका एक अन्य अर्थ यह है कि परमात्मा ने उचित प्रकार से प्रजापतियों को उनके कर्तव्यों का विभाजन किया।
परमात्मा ने हिरण्यगर्भ, तैजस, प्राज्ञ का तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण (बीज) का विभाग किया। वास्तव में सर्वत्र एक ब्रह्म है तथा नाम, रूप के कारण विभाजन अथवा विभिन्नता केवल बाह्य है। नाम, रूप के विन्यास से पृथक्ता दीखती है। 'एको देवः' —वह एक ही है।

मन्त्र ९, १०, ११

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ९॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥१०॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥११॥

शब्दार्थ : ये = जो; अविद्यां उपासते = अविद्या की उपासना करते हैं; (ते) अन्धं तमः प्रविशन्ति = वे अंध तम में (घोर अन्धकार में) प्रवेश करते हैं; ये विद्यायां रताः = जो विद्या में रत हैं; ते = वे; तत उ = उससे भी; भूय इव तमः = मानो उससे भी बढ़कर अन्धकार में (प्रवेश करते हैं) ॥९॥

(इव=वास्तव में नहीं, मानो और अधिक भ्रान्त अवस्था में)

विद्यया अन्यत् एव आहुः=विद्या से दूसरा ही फल कहते हैं (कहा जाता है); अविद्यया अन्यत् आहुः=अविद्या से दूसरा फल कहते हैं; इति=ऐसा; धीराणाम् शुश्रुम=धीर पुरुषों के (धीर पुरुषों के वचन को) सुना है; ये=जिन्होंने; नः=हमें; तत्=उसे; विचचक्षिरे=व्याख्या करके समझाया था॥ १०॥

यः=जो; तत् उभयम्=उन दोनों को; विद्यां च अविद्यां च=विद्या को और अविद्या को भी; सह वेद=साथ-साथ जान लेता है; अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा=अविद्या से मृत्यु को पार करके; विद्यया अमृतं अश्नुते=विद्या से अमृत का भोग करता है॥ ११॥

वचनामृत : जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो विद्या में रत हैं, वे उससे भी बढ़कर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। विद्या से दूसरा ही फल कहते हैं, अविद्या से दूसरा ही फल कहते

हैं, ऐसा धीर पुरुषों के वचन को सुना है, जिन्होंने हमें उसे समझाया था। जो उन दोनों को, विद्या और अविद्या को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके, विद्या से अमृत प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ : मंत्र ९, १० और ११ परस्पर जुड़े हुए हैं। इनमें विद्या और अविद्या की चर्चा की गयी है। विद्या और अविद्या के अनेक अर्थ किये गये हैं। इन मंत्रों से आगे १२, १३, १४ मंत्रों में सम्भूति और असम्भूति की चर्चा है। सम्भूति और असम्भूति के भी अनेक अर्थ किये गये हैं। विभिन्न अर्थों में सामंजस्य स्थापित करके अन्तर्गूढ, सुसंगत एवं स्वीकार्य अर्थ को ग्रहण करना विवेकसम्मत है। विचार-निर्णय में अनुरोध और आग्रह करना विचार की प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। महान् एवं रूढ दार्शनिक सिद्धान्त भी यथार्थपरक एवं बुद्धिसंगत होकर ही उपयोगी होते हैं। व्याख्या का अधिक विस्तार भी प्राय: भ्रान्तिकारक हो जाता है।

इन मंत्रों के अनुसार मानव के पूर्ण विकास के लिए विद्या और अविद्या का तथा सम्भूति और असम्भूति का समुच्चय आवश्यक है। यहाँ उनके सहानुष्ठान की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इन छह मंत्रों में जीवन की समग्रता का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। मंत्र ९ को बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.१०) में भी कहा गया है।

दिव्यामृत : तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मविद्या समस्त विद्याओं की आश्रयभूता अथवा श्रेष्ठ है।[१] ब्रह्म के ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[२] अतएव ब्रह्मज्ञान सर्वोपरि है।

---

१. **ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्** (मुण्डक उप० १.१.१)—ब्रह्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है।
अध्यात्मविद्या विद्यानाम् (गीता १०.३२)—विद्याओं में अध्यात्मविद्या वरिष्ठ है।

२. **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति** (मुण्डक उप० १.१.३) —ऋषिकुल के अधिष्ठाता शौनक मुनि ने महर्षि अङ्गिरा से पूछा—हे भगवन्, किसके जानने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है?

विद्या दो हैं—अपरा और परा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष (ग्रह-विज्ञान)—ये सभी (चार वेद तथा छह वेदाङ्ग) अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं। जिस विद्या से अविनाशी ब्रह्म को तत्त्व से जाना जाता है, वह परा विद्या है। ब्रह्मविद्या (अथवा आत्मविद्या) ही परा विद्या अर्थात् सर्वोपरि विद्या है। बुद्धि से अग्राह्य, नित्य, विभु (सर्वव्यापी), सर्वगत (सबमें स्थित), अत्यन्त सूक्ष्म तथा अविनाशी ब्रह्म को धीर (ज्ञानी पुरुष) सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।[1]

वास्तव में आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान विद्या है तथा सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। लौकिक ज्ञान उसकी अपेक्षा निम्नतर है। लौकिक विद्याएँ संसार का भौतिक ज्ञान देती हैं तथा उन्हें ब्रह्मविद्या की अपेक्षा अविद्या कह दिया जाता है। अविद्या का अर्थ अज्ञान एवं अन्धकार है, क्योंकि उससे आत्मज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं होता।

विद्या चेतनापरक ज्ञान है तथा अविद्या पदार्थपरक ज्ञान है। एक ओर आत्मस्वरूप को जानने अथवा आत्मानुभूति करने के लिए विद्या का सर्वोपरि स्थान है, दूसरी ओर संसार में जीवन-निर्वाह के लिए अविद्या की भी आवश्यकता है। दोनों का सहानुष्ठान करना जीवन की समग्रता के लिए नितान्त आवश्यक है। किसी एक की भी उपेक्षा करना घातक हो जाता है।[2] दोनों को परस्पर पूरक मानना ही विवेकपूर्ण है। अध्यात्म (विद्या)

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् (बृह० उप० ४.५.१५)
—जिसके ज्ञात होने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है, उसे किससे जानें? ब्रह्म सर्वाधिष्ठाता तथा सर्वज्ञ है और उसे कोई नहीं जानता। वह अनुभूतिगम्य है।

१. नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः
(मुण्डक उप० १.१.६)
—नित्य, व्यापक, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी, प्राणियों की उत्पत्ति के कारण ब्रह्म को धीर (ज्ञानी) सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं (अनुभव करते हैं)।

२. अब रहीम मुश्किल परी गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम॥

तथा भौतिकता (अविद्या) का समन्वय होना मानवीय प्रगति एवं सुख-संपन्नता के लिए महत्त्वपूर्ण है।

एक ओर मात्र आत्मज्ञान होना अपर्याप्त है तथा दूसरी ओर निरंकुश अथवा अनियंत्रित भौतिक विज्ञान अनर्थ एवं विनाश कर देता है। भौतिक समृद्धि पर ही बल देने से सत्य और न्याय का हनन हो जाता है। विद्याविहीन अविद्या तथा अविद्याविहीन विद्या अधूरी हैं। विद्या से मनुष्य के मन की विकारों से विमुक्ति हो जाती है।[१] विद्या से ही अमृत प्राप्त होता है अर्थात् अमृतस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।[२] किन्तु जीवन के निर्वाह के लिए पदार्थ-विज्ञान के सदुपयोग की भी अत्यधिक आवश्यकता होती है।

यह एक तथ्य है कि वे लोग, जो अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् केवल भौतिक विज्ञान एवं लौकिक ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं, अन्धकार में प्रवेश करते हैं, क्योंकि वे संसार में अशान्ति फैला देते हैं। इसी प्रकार वे लोग, जो केवल विद्या की उपासना करते हैं अर्थात् कोरे अध्यात्मवादी होकर जीवन के लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं, उससे भी अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, क्योंकि वे शरीर आदि की आवश्यकताओं को तिरस्कृत करने के कारण, ज्ञानी होकर भी दु:ख उठाते हैं। यहाँ विद्या अथवा अविद्या का निषेध नहीं है और न उनकी निन्दा है, बल्कि उनके समुच्चय की आवश्यकता है।

निश्चय ही चेतनापरक ज्ञान सर्वोपरि है। पदार्थपरक ज्ञान से केवल पदार्थ का ज्ञान होता है, किन्तु चेतना-विज्ञान द्वारा न केवल पदार्थ के मूलस्रोत का रहस्य ज्ञात हो जाता है, बल्कि उसके सदुपयोग का भी महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। पदार्थ-विज्ञान के सोपान से चेतना-विज्ञान के उत्कर्ष को प्राप्त करना संभव होता है।

---

१. **सा विद्या या विमुक्तये**—विद्या वह है, जो विमुक्ति कर दे।

२. **विद्यया विन्दतेऽमृतम्** (केन उप० २.४)
—विद्या से अमृतस्वरूप परमात्मा प्राप्त हो जाता है।

अविद्या का एक अर्थ कर्म ((१) कर्मकाण्ड के अन्तर्गत अग्निहोत्र आदि को लौकिक भोगैश्वर्य के लिए करना तथा (२) दान, सेवा आदि उत्तम कर्म करना) है तथा विद्या का अर्थ स्वर्गादि की कामना से देवोपासना करना है।[1]

इसके अतिरिक्त विद्या की उपासना का नाम लेकर अनेक मनुष्य ज्ञान का मिथ्या आरोप कर लेते हैं तथा ज्ञान के ये मिथ्याभिमानी 'अब हमें कुछ करना शेष नहीं रहा' ऐसा कहकर अकर्मण्य हो जाते हैं।[2] यह तो एक तथ्य है कि तत्त्वज्ञान होने पर कर्म (कर्तृत्व का अभिमान, मैं कर्म कर रहा हूँ, ऐसा अभिमान) स्वत: छूट जाता है।[3] सनक, शुकदेव, दत्तात्रेय आदि (तथा वर्तमान युग में रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, रमण आदि) कर्म से पूर्णत: निवृत्त होकर जीवन्मुक्त हो गये तथा जनक आदि लोकसंग्रह के लिए निष्काम भाव से कर्म करते रहे।

सामान्यत: एक ओर अपने भीतर ज्ञान के आलोक में अन्तश्चेतना का विकास होना सर्वोपरि है, दूसरी ओर बहिर्जगत् में भी अपनी सार्थक

---

१. यह शाङ्करभाष्य के अनुसार है।

२. **अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितं मन्यमाना:**
(मुण्डक उप० १.२.८)
—अविद्या में स्वयं को बुद्धिमान् और विद्वान् मान लेनेवाले मिथ्याभिमानी भटक जाते हैं।
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला:
(मुण्डक उप० १.२.९)
—मूर्ख जन अविद्या में स्वयं को कृतार्थ मानकर दंभ कर लेते हैं।

३. **यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव:।**
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (गीता ३.१७)
—पूर्ण आत्मज्ञान होने पर मनुष्य का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।
कर्मकि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।
भट्ट भास्कर आदि ने ज्ञानी के लिए लोक-हित में निष्काम कर्म करना संभव एवं उचित कहा है।

भूमिका का निर्वाह करते रहना भी आवश्यक है। जीवन में एकांगी होना प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। सांगोपांग एवं समग्र जीवन मनुष्य को सन्तुलित बना देता है। जीवन को पूर्णता की ओर ले जाकर ही मनुष्य सुखी और शान्त हो सकता है॥ ९॥

* * *

विद्या से दूसरा ही फल कहा गया है तथा अविद्या से भी कुछ दूसरा ही फल कहा गया है। ऐसा उन विद्वानों के वचनों द्वारा कहा गया है, जिन्होंने विद्या और अविद्या की व्याख्या करके इस विषय को स्पष्टतः समझाया।

वास्तव में परमात्मा विद्या और अविद्या से भी परे है, यद्यपि विद्या और अविद्या परमात्मा की प्राप्ति में सहायक एवं साधक हैं।[१] परमात्मा सर्वथा विलक्षण है तथा उसे विद्या या अविद्या के द्वारा भी न समझा जा सकता है और न उसका ग्रहण हो सकता है। परमात्मा नितान्त रहस्यमय चैतन्यसत्ता है तथा मात्र बुद्धि से सर्वथा अग्राह्य है। उसे विद्या-अविद्या की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। विद्या अविद्या का उत्तम फल है, किन्तु उसकी एक सीमा है।

ज्ञान को यथार्थ रूप से ग्रहण करने के लिए पहले नित्य और अनित्य, सत् और असत्, आत्म और अनात्म, अविनाशी और विनश्वर का भेद

१. **द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।**
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ (श्वेत० उप० ५.१)—परमात्मा में विद्या-अविद्या दोनों स्थित हैं। विनाशशील जडवर्ग और उसका ज्ञान अविद्या है तथा अविनाशी परमात्मा और उसका ज्ञान विद्या है। वह जो विद्या और अविद्या पर शासन करता है, वह परमात्मा इन दोनों से अन्य, सर्वथा विलक्षण है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथै-तदनुशिष्यात्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे (केन उप०१.३)

—परमात्मा को चक्षु, वाणी, मन प्राप्त नहीं कर सकते। अतः जैसा उसका स्वरूप कहा जाता है, हम उसे नहीं जानते। परमात्मा विलक्षण है।

जानना चाहिए, तदनन्तर परमात्मा के दो रूप मूर्त और अमूर्त समझ में आने लगते हैं। मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्—ये दो ब्रह्म के रूप हैं।[१] ज्ञान की चरम अवस्था में सर्वत्र ब्रह्म का ही अनुभव होने लगता है।[२] पदार्थपरक विज्ञान चेतनापरक ज्ञान में परिणत हो जाता है। मनुष्य में कर्तृत्व का अहंकार (मैं कर्म का कर्ता हूँ, ऐसा अहंकार) विलुप्त हो जाता है। पूर्ण आत्मज्ञानी विद्या और अविद्या से परे चला जाता है। वह कर्तव्य और अकर्तव्य से ऊपर उठ जाता है।

आत्मतत्त्व विद्या और अविद्या से परे एक विलक्षण तत्त्व है। परमात्मा विश्व की चैतन्यसत्ता है। वह सत्य का भी सत्य है।[३] धीर पुरुष निर्मल अन्तःकरण द्वारा उसकी दिव्यानुभूति कर लेते हैं॥ १०॥

* * *

जो मनुष्य दोनों विद्या और अविद्या को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर लेता है तथा विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है।

अविद्या अपरा विद्या है, कुविद्या नहीं है। अपरा विद्या परा विद्या का मार्ग प्रशस्त करती है तथा परा विद्या समस्त विद्याओं में शीर्षस्थ है। विद्या का उद्देश्य दैवी चेतना को जागृत करना है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए बाह्य स्तर पर अपरा विद्या तथा आन्तरिक स्तर पर परा विद्या की आवश्यकता है। वास्तव में विद्या ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति की पूर्वभूमिका है। दिव्यानुभूति जीवन का परम लक्ष्य है तथा मानव की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

---

१. **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च** (बृह० उप० २.३.१)
—ब्रह्म के दो रूप हैं— मूर्त्त और अमूर्त्त, मर्त्य और अमृत, स्थित (अचर) और यत् (चर) तथा सत् और असत्।

२. **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छान्दोग्य उप० ३.१४.१)—यह सब तत्त्वतः ब्रह्म ही है।

३. **सत्यस्य सत्यम्** (बृ० २.३.६)—परमात्मा सत्य का भी सत्य है।

अविद्या जगत्प्रपञ्च की विद्या है तथा जीवन में साध्य नहीं है। असत्य से सत्य की प्राप्ति होती है।[१] दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक होती है, किन्तु देह तो परमात्मा का मन्दिर है। सुखभोग द्वारा योग की ओर बढ़ना विवेकमय होता है। दैहिक भोग साध्य नहीं होते, किन्तु पूर्णता की प्राप्ति के लिए वे साधन अवश्य होते हैं। मात्र भोगों में फँसे रहना पशुत्व है।[२] पशु के लिए देह भोगधाम होता है, किन्तु मनुष्य के लिए धर्मसाधन होता है।[३]

दैहिक एवं लौकिक सुखभोग में फँसे रहना अर्थात् जगत्प्रपञ्च में फँसे रहना आत्महनन करना है, किन्तु अविद्या (लौकिक ज्ञान) के द्वारा विषय-सागर को पार कर लेना अथवा मृत्युरूप जगत् को पार कर लेना सर्वथा अभीष्ट है। विद्या का उद्देश्य अमृत-प्राप्ति अर्थात् दिव्यानुभूति प्राप्त करना है।[४]

विद्या और अविद्या अलग-अलग एकांगी हैं तथा एक साथ होने पर सर्वांगपूर्ण हो जाती हैं। विषय-नदी को नौका द्वारा पार करके दूसरे तट पर मनोरम दृश्य का रसास्वादन करना अन्तस्तृप्ति प्रदान करता है।

एक अन्य अर्थ यह भी है कि अविद्यारूप अग्निहोत्रादि कर्म से लौकिक

---

१. **असत्येन सत्यमीहते**—असत्य से सत्य की प्राप्ति होती है।

२. **आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।**
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
—आहार, निद्रा, भय, मैथुन तो पशुओं के सदृश मनुष्यों में भी सामान्य हैं। मनुष्यों में इससे अधिक और विशेष धर्म होता है। धर्माचरण न करनेवाले मनुष्य पशुओं के समान होते हैं।

३. **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** (कालिदास)—शरीर धर्म का प्रथम साधन है।
साधनधाम मोच्छ कर द्वारा।
एहि तन कर फल विषय न भाई, स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।
नर तनु पाइ विषय मन देहीं, पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।

४. **तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते** (मनु)—तप से पाप नष्ट होते हैं तथा विद्या से अमृत-प्राप्ति हो जाती है।

सुख प्राप्त होते हैं, किन्तु विद्यारूप देवोपासना के शुद्ध रूप से देवात्मभाव प्राप्त होता है, जो ब्रह्म की ओर उन्मुख कर देता है। उपासना का उद्देश्य ज्ञान-प्राप्ति ही है। यह कर्म और उपासना का समुच्चय है।

लौकिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान तथा अलौकिक अथवा पारमार्थिक ज्ञान युग्म मानो अन्ध-पङ्गु संयोग है, जो जीवन को सर्वाङ्गपूर्ण बना देता है तथा मनुष्य को गन्तव्य एवं प्राप्तव्य तक कुशलतापूर्वक पहुँचा देता है। प्रेय (सांसारिक प्रियता) से श्रेय (आत्मिक कल्याण) की प्राप्ति होना विवेकमयता है ॥११॥

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मैं आपकी कृपा से लौकिक स्तर पर अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों का पूर्ण निर्वाह करते हुए तथा शुभ कर्म करते हुए चित्त-शुद्धि द्वारा दिव्यामृत प्राप्त कर लूँ।

दिव्यामृत-सारांश

ब्रह्मज्ञान का निरूपण करनेवाली विद्या परा विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या है। पदार्थपरक ज्ञान तथा चेतनापरक ज्ञान का समावेश होना सर्वांगीण जीवन के लिए आवश्यक है। दोनों का विवेकपूर्ण समन्वय होना आत्मोन्नति का दृढ आधार है।

मन्त्र १२,१३,१४

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१३॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

शब्दार्थ : ये=जो मनुष्य; असम्भूतिं उपासते=असम्भूति की उपासना करते हैं; अन्धं तमः प्रविशन्ति=अन्ध तम (घोर अन्धकार) में प्रवेश करते हैं; य (ये)=जो मनुष्य; सम्भूत्यां रताः=सम्भूति में रत हैं; ततः उ भूयः इव=उससे भी मानो बढ़कर; ते तमः=वे अन्धकार में (प्रवेश करते हैं) ॥ १२ ॥

सम्भवात्=सम्भूति अथवा सम्भव (की उपासना) से; अन्यत् एव=कुछ दूसरा ही (फल); आहुः=कहते हैं; असम्भवात्=असम्भूति अथवा असम्भव (की उपासना) से; अन्यत्=दूसरा (ही फल); आहुः=कहते हैं; इति=ऐसा; धीराणाम्=धीर पुरुषों के; शुश्रुम=(वचन) सुने हैं; ये नः तत् विचचक्षिरे=जिन्होंने हमें उसे (उस विषय को) व्याख्या करके समझाया ॥ १३ ॥

यः=जो मनुष्य; तत् उभयम्=उन दोनों को; सम्भूतिं च विनाशं च=सम्भूति को और विनाश को भी; सह वेद=साथ-साथ जान लेता है; विनाशेन=विनाश से; मृत्युं तीर्त्वा=मृत्यु को पार करके; सम्भूत्या=सम्भूति (की उपासना) से; अमृतं अश्नुते=अमृत को चख लेता है, प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥ माध्यन्दिन-पाठ में पहले १२,१३,१४ मन्त्र हैं तथा बाद में ९,१०,११ मन्त्र हैं। यह मन्त्रक्रम में भेद है।

वचनामृत : वे मनुष्य, जो असम्भूति की उपासना करते हैं, अन्ध तम

में प्रवेश करते हैं; वे, जो सम्भूति में रत हैं, उससे भी मानो बढ़कर अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

सम्भव से कुछ दूसरा ही फल कहते हैं, असम्भव से कुछ दूसरा ही फल कहते हैं, (हमने) इस प्रकार धीर पुरुषों के वचन सुने हैं, जिन्होंने हमें उस विषय को व्याख्या करके समझाया ॥ १३ ॥

जो मनुष्य उन दोनों को, सम्भूति और विनाश को भी, साथ-साथ जान लेता है, (वह) विनाश से मृत्यु को पार करके सम्भूति से अमृत को प्राप्त कर लेता है। (शंकराचार्य के अनुसार मंत्र १४ में 'अ' का लोप मान लेने पर अर्थ यह है—जो मनुष्य उन दोनों असम्भूति और विनाश को भी साथ-साथ जान लेता है, वह विनाश से मृत्यु को पार करके असम्भूति से अमृत को प्राप्त कर लेता है) ॥ १४ ॥

सन्दर्भ : मंत्र १२, १३, १४ परस्पर जुड़े हुए हैं। मंत्र ९, १०, ११ तथा मंत्र १२, १३, १४ में बहुत समानता है। मंत्र १२ में मन्त्र ९ के 'विद्याम्' के स्थान पर 'सम्भूतिम्' तथा 'विद्यायाम्' के स्थान पर 'सम्भूत्याम्' है। मंत्र १३ में मंत्र १० के 'विद्यया' और 'अविद्यया' के स्थान पर क्रमश: 'सम्भवात्' और 'असम्भवात्' हैं। मंत्र १४ में मंत्र ११ के 'विद्याम्' तथा 'अविद्याम्' के स्थान पर क्रमश: 'सम्भूतिं' तथा 'विनाशम्', 'अविद्यया' तथा 'विद्यया' के स्थान पर क्रमश: 'विनाशेन' तथा 'सम्भूत्या' है। शेष शब्दविन्यास एक ही है। मंत्र ९, १०, ११ में विद्या और अविद्या के सहानुष्ठान का तथा मंत्र १२, १३, १४ में सम्भूति और असम्भूति के सहानुष्ठान का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार विद्या और अविद्या के विभिन्न अर्थ किये गये हैं, उसी प्रकार सम्भूति और असम्भूति के भी विभिन्न अर्थ किये गये हैं। अध्येता को विवेकसम्मत अर्थ स्वीकार करना चाहिए। शंकराचार्य ने निर्णय किया है कि मंत्र १४ में 'सम्भूतिं' को 'असम्भूतिं' समझा जाये तथा 'अ' का (व्याकरण-दृष्टि से अथवा छन्द-दृष्टि से) लोप मान लिया जाय। मंत्र १२, १३, १४ में मंत्र १४ ही प्रमुख

है। मंत्र १४ में 'सम्भूति' और 'विनाश' के अनेक अर्थ किये गये हैं। शङ्कर को न माननेवाले विद्वानों ने मंत्र १४ में 'अ' के लोप को स्वीकार नहीं किया तथा अपने ही स्वतंत्र अर्थ किये हैं।

दिव्यामृत : परमात्मा सारे विश्व का कर्ता है[1] तथा प्रकृति उसकी एक शक्ति है, जिसे माया भी कहा जाता है।[2] संसार में मूलत: परमात्मा की ही सत्ता है। जैसे अनेक नाम और रूपवाले स्वर्णाभूषणों में मौलिक सत्ता स्वर्ण की है तथा उनका नाम और रूप हटा देने पर एक स्वर्ण ही शेष रहता है, वैसे ही अनेक नाम और रूपवाले जगत् में मौलिक सत्ता परमात्मा की है, जिसमें नामरूपात्मक जगत् आरोपित अथवा मिथ्या (अर्थात् मात्र प्रतीति, अयथार्थ, असत्) प्रतीति है। प्रकृति (अव्यक्त अथवा अव्याकृत प्रकृति) ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है तथा ब्रह्म उस अव्यक्त से भी परे परम अव्यक्त है। वही साध्य है।

इस नामरूपात्मक जगत् का कारण अव्यक्त प्रकृति है, जिसे कारण-ब्रह्म भी कहते हैं तथा यह नामरूपात्मक जगत् (क्षुद्र जन्तु से हिरण्यगर्भ तक) कार्यब्रह्म है। कारण से कार्य उत्पन्न होता है तथा कार्य में कारण समाया हुआ रहता है। यह जगत् मानो हिरण्यगर्भ का शरीर ही है।

संभूति अथवा कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति भी हो जाती है[3] तथा असंभूति अथवा कारणब्रह्मरूप अव्यक्त प्रकृति की उपासना से प्रकृति में लय प्राप्त हो जाता है, जिसे निर्बीज अथवा असंप्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है। अव्याकृत प्रकृति असंभूति

---

१. **स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता** (बृह० उप० ४.४.१३)—विश्व का रचयिता वह सबका कर्ता है।

२. **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वे० उप० ४.१०)—माया को प्रकृति समझें तथा परमेश्वर को माया का स्वामी! वेदान्त के अनुसार प्रकृति और माया एक ही हैं।

३. पतञ्जलि ऋषि के योगदर्शन में विभूतिपाद अध्याय में अणिमादि सिद्धियों का विवरण है।

है, क्योंकि उसकी रचना नहीं होती। वह परमात्मा की अध्यक्षता में सृष्टि की रचना करती है।[1]

सत्त्वगुण से उत्पन्न समष्टि बुद्धि सर्वप्रथम रचना है। उसे ही कार्यब्रह्म, हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मा भी कहते हैं। ज्ञानशक्तिप्रधान होने के कारण तथा सूक्ष्मशक्ति के प्रधान होने के कारण इसे सूत्रात्मा भी कहते हैं। अव्याकृत प्रकृति अथवा कारणब्रह्म असंभूति है तथा कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ संभूति है। प्रकारान्तर से असंभूति ही असंभव तथा संभूति ही संभव है। क्षुद्र चींटी से ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ)पर्यन्त सम्पूर्ण कार्य जगत् एवं समस्त प्राणिवर्ग संभूतिपदवाच्य है तथा वह अव्याकृत प्रकृति का परिणाम है। अव्याकृत प्रकृति ही माया है।

असंभूति की उपासना से प्रकृतिलयसिद्धि प्राप्त हो जाती है, जो अमृत-रूपा है तथा संभूति (विनाश) अथवा कार्यब्रह्म की उपासना से कामना आदि के दोषों को दूर करने पर मानो मृत्यु पार हो जाती है। केवल समष्टि की उपासना करते हुए व्यष्टि की उपेक्षा करना मानो अन्धकार में प्रवेश करना है तथा व्यष्टि में रत होकर समष्टि की उपेक्षा करना मानो उससे भी बड़े अन्धकार में प्रवेश करना है।

समष्टि और व्यष्टि दोनों के कल्याण की साथ-साथ साधना करना ही अभीष्ट है। यही यज्ञभावना है।[2] सबके कल्याण में मेरा कल्याण भी सन्निहित है।

संभूति को विनाशशील होने के कारण 'विनाश' कहा गया है। कार्य विनाशशील होता है। अव्याकृत प्रकृति को अनादि एवं अनुत्पन्न होने के कारण असंभूति कहा गया है। वास्तव में कारणरूपा अव्याकृत प्रकृति तथा कार्यरूप व्याकृत जगत् दोनों चेतन ब्रह्म के आश्रित हैं। परब्रह्म ही परम

---

१. **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्** (गीता ९.१०)—भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् की रचना करती है।

२. गीता अध्याय ३ श्लोक १०, ११, १२, १३ में यज्ञभावना की प्रशंसा की गयी है।

साध्य एवं परम उपास्य है। समष्टि और व्यष्टि का सामंजस्य स्थापित करना अध्यात्मपथ को सुगम बना देता है।

असंभूति का अर्थ असद्वृत्तियों का निरोध तथा सम्भूति का अर्थ सद्वृत्तियों का विकास भी कहा गया है तथा दोनों का सहानुष्ठान (साथ-साथ करना) श्रेयस्कर कहा गया है।[१]

प्रार्थना

हे परमात्मन्, मैं जीवन में जनहित और स्वहित का सामंजस्य स्थापित करके परमार्थ और स्वार्थ का अभेद स्थापित कर लूँ। परमार्थ में मेरा स्वार्थ सन्निहित है।

दिव्यामृत-सारांश

परमात्मा जगत् की रचना प्रकृति अथवा माया के माध्यम से करता है। सम्पूर्ण प्रकृति अथवा माया परमात्मा के अधीन है। परमात्मा ही सर्वोपरि एवं परम उपास्य है। जगत् अथवा प्राणियों के समष्टिगत कल्याण में मेरा व्यष्टिगत कल्याण भी अन्तर्निहित है।

---

१. उव्वट ने संभूति का अर्थ ब्रह्म और विनाश का अर्थ शरीर किया है।

मन्त्र १५

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

शब्दार्थ : पूषन्=हे भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर; सत्यस्य=सत्य का, सत्यस्वरूप आपका; मुखम्=मुख; हिरण्य=सुवर्ण; यशो वै हिरण्यम्, ज्योतिर्वै हिरण्यम्। हिरयमयेन पात्रेण=हिरण्मय पात्र से, सुवर्णपात्र से; अपिहितम्=ढका हुआ है; त्वं=तू; तत्=उस आवरण अथवा पात्र को; सत्यधर्माय=सत्य को धर्म माननेवाले (मुझे); दृष्टये=दृष्टि के लिए, दर्शन के लिए, देखने के लिए; अपावृणु=हटा दे।

वचनामृत : हे परमेश्वर, सत्य का (सत्यस्वरूप आपका) मुख हिरण्मय पात्र (आवरण) से ढका हुआ है। सत्य को धर्म माननेवाले (सत्य (सत्य के उपासक) मेरे देखने के लिए उस आवरण को हटा दे।

सन्दर्भ : मंत्र १५, १६, १७ और १८ प्रार्थना-मंत्र हैं। मंत्र १५ और १६ परस्पर जुड़े हुए हैं।

दिव्यामृत : सम्पूर्ण विश्व का संचालन करनेवाली सर्वोच्च चैतन्यसत्ता एक ही है, जो इसके कण-कण में व्याप्त है तथा इसकी आधारभूता है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वह निर्गुण-निराकार है तथा उपासना की दृष्टि से वह सगुण-निराकार है। भक्ति की दृष्टि से परमात्मा सगुण-साकार भी है। उसे ज्ञान से ग्रहण किया जाता है तथा ध्यान से उसकी अनुभूति अपने भीतर ही होती है। वह चित्सत्ता प्रकाशस्वरूप है तथा अपने भीतर ही उसकी दिव्यानुभूति अथवा आनन्दानुभूति होना जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

उस दिव्य चैतन्यसत्ता का दिव्यांश हमारे भीतर विद्यमान है तथा वह चिदंश ही हमारी चेतना एवं जीवन का स्रोत है। वह पंचकोशों से आवृत

है।[१] मनुष्य का अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) एक ही यंत्र है तथा अहंकार उसका केन्द्र है। अहंकार के कारण मनुष्य में देहादि के प्रति अहंता (अहंभाव—मैं, मेरा और ममत्व का भाव) उत्पन्न हो जाता है। इस मिथ्या 'अहं' के पृष्ठ में आत्मचेतना अथवा दिव्य आत्मा है जो मनुष्य का यथार्थ 'अहं' होता है।[२] अपने स्वरूप को जानना और उसकी अनुभूति करना जीवन की परम उपलब्धि है। विश्व की संचालक चैतन्यसत्ता और मनुष्य की आत्मचेतना तत्त्वतः एक ही हैं तथा उनकी एकता (ब्रह्मात्मैक्य) की अनुभूति आनन्दरूपा है।[३] मनुष्य का देह भोग और रोग का मन्दिर है तथा मोक्ष का भी साधन है।[४] मनुष्य की दैवी वृत्तियाँ उसे दिव्य आनन्द की ओर तथा आसुरी वृत्तियाँ अन्धकारमय दुःख की ओर ले जाती हैं। मनुष्य अपने सुख और दुःख का कारण स्वयं ही होता है, यद्यपि वह अपने दुःखों के लिए भाग्य और भगवान् को तथा दूसरों को उत्तरदायी ठहरा देता है। दूसरे लोग कष्ट की परिस्थिति प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु दुःख नहीं दे सकते। दुःख और सुख मन की अवस्था होती हैं।

आत्मा सत् (शाश्वत, नित्य) है तथा जगत् असत् (नश्वर, अनित्य) है। सत्य (सत्तत्त्व) के संदर्शन का आकांक्षी पुरुष सत्य को अथवा सत्य की साधना को धर्म मानता है। वह सत्यधर्मा होता है।[५] सत्य का साक्षात्कार करना सरल नहीं है। सत्यरूपी अमृत मानो एक कलश में संस्थित है,

---

१. अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश।
२. मिथ्या अथवा अयथार्थ अथवा उधार लिया हुआ अहम् तथा यथार्थ अहम् (false or borrowed 'I' and Real 'I')
३. **आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्**—आनन्द ब्रह्म का रूप है।
४. **शरीरं व्याधिमन्दिरम्; शरीरं देवमन्दिरम्**—शरीर रोगों का मन्दिर है; शरीर ईश्वर का मन्दिर है।
५. **सत्यं धर्मोयस्य सत्यधर्मा**—सत्य जिसका धर्म है, वह सत्यधर्मा है। **सत्यधृतिः** (कठोप० १.२.९)

जिसके ऊपर एक सुवर्णमय आवरण (पात्र) रखा हुआ है। यह बाधक सुवर्णमय पात्र क्या है? इसे कैसे हटाया जाय? साधक के लिए यह एक समस्या है। तिल की ओट में पहाड़ है, किन्तु ओट कैसे दूर हो?

हिरण्मय पात्र अथवा सुवर्णमय आवरण एक ऐसी प्रतिबन्धक अथवा अवरोधक यवनिका है, जो मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करके मोहित कर देती है तथा सत्य के संदर्शन में बाधा उत्पन्न कर देती है। यह एक अत्यन्त मोहक आवरण है। सुवर्ण सांसारिक धन-सम्पत्ति इत्यादि का अर्थात् माया का प्रतीक है। मनुष्य वित्तमोह अथवा धन के आकर्षण एवं प्रलोभन में फँसकर भटक जाता है।[1] संसार विषयों का जाल है।[2] मनुष्य अपने भीतर संस्थित दिव्यामृत को प्राप्त करानेवाले श्रेय मार्ग को छोड़कर, श्रेय के आच्छादक एवं अवरोधक प्रेय मार्ग के आकर्षण से मानो ठग लिया जाता है।[3] केवल आत्मज्ञान से ही मोहावरण दूर हो सकता है। ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का प्रगाढ अन्धकार विदीर्ण हो सकता है।

चैतन्यसत्ता अथवा चित्तत्त्व परम सत् है। वही सृष्टि का आत्यन्तिक सत्य है तथा सर्वोपरि है। ब्रह्म नित्य सत्, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।[4] सत्य ही धर्म है।[5] सत्य को असत्य ढक लेता है। सत्य कामनाओं को अनृत

---

१. वित्तमोहेन मूढम् (कठोप० १.२.६)—धन के मोह से भटका हुआ।
२. अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् (अथर्व० ८.८.८)—यह संसार शक्तिशाली परमात्मा का मोहक जाल है।
३. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः (कठोप० २.२)—श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं।
४. सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म (तै० उप० वल्ली २)—परमात्मा सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा सीमारहित है।
५. यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् (बृहद० उप० १.२.१४)
धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य, तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥ (महाभारत)—सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है, असत्य परम पाप है। धर्म का सार सत्य है, अतः सत्य का लोप नहीं करना चाहिए।

(असत्य) कामनाएँ ढक लेती हैं।[१] किन्तु वास्तव में सत्य के प्रखर प्रकाश को आच्छादित करना संभव ही नहीं है। द्रष्टा की दृष्टि के आच्छादित होने पर वह भ्रमवश कह देता है कि सूर्य अब पूर्णत: आच्छादित है। आकाश में मेघपटल के आने पर लोग प्राय: कह देते हैं कि सूर्य विलुप्त अथवा आच्छादित हो गया है।[२] किन्तु वास्तव में वह आच्छादित नहीं होता। परम ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, किन्तु माया से आवृत होने पर मनुष्य की बुद्धि उसका सन्दर्शन नहीं कर पाती।[३]

माया का मोहक आवरण सुवर्णपात्र की भाँति मुग्धकारी है तथा उसे हटाना अत्यंत दुष्कर है। सत्य का साधक जब सत्य के अमृतकलश के समीप जाता है, उसका सुवर्णमय आवरण (ढकना) उसकी आँखों को चुँधिया देता है और वह स्वयं को असहाय और विवश मान लेता है। ज्ञान और ध्यान से प्रचुर अन्त:प्रकाश मिलने पर भी मन माया से मुक्त नहीं हो सका। सत्य के साधक ने अन्त में मायापति की प्रार्थना का सहारा लेकर अपने भावपूर्ण उद्गार प्रकट किये[४] —"हे विश्व का पोषण करनेवाले परमेश्वर, मैं क्लान्त और श्रान्त हूँ तथा इस मोहक आवरण को हटाने में असमर्थ हूँ। मैं सत्य को धर्म मानकर, सत्य के मार्ग का अनुसरण कर रहा

---

१. **त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः** (छा० उप० ८.३.१)
—आत्मा की सत्य- कामता को अनृत कामनाएँ ढक लेती हैं।

२. **यथा गगन घन पटल निहारी।**
झम्पेऊ भानु कहहिं कुविचारी॥

३. माया का वर्णन पञ्चदशी के छठे अध्याय 'चित्रदीप' में है।

४. **मैं अरु मोर तोर तै माया, जेहि बस कीन्हे जगत निकाया**
— मैं, मेरा, तेरा—यही माया है।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारि बर्ग जानइ सब कोऊ।
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी, माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया, ताते तेहि डरपति अति माया।
ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गोसाईं, बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

हूँ। हे प्रभो, मुझ सत्यधर्मा के सत्य संदर्शन के लिए इस चमचमाते हुए आवरण को स्वयं ही हटा दें, जिससे मैं आपके सत्यस्वरूप की दिव्य ज्योति का साक्षात्कार करके जीवन को कृतार्थ कर सकूँ और धन्य हो जाऊँ।" यह भावपूर्ण आत्मसमर्पण अथवा अहंकारसमर्पण है। भक्तिपूर्ण आत्मसमर्पण से अहंकार का शोधन हो जाता है तथा मन निर्मल हो जाता है।

भक्तिभाव होने पर सगुण ब्रह्म ही प्रेमस्वरूप ब्रह्म अथवा प्रिय ब्रह्म हो जाता है।[1] प्रेमस्वरूप ब्रह्म की उपासना मानो प्रेम द्वारा होती है। सत्य साध्य है तथा प्रेम एक साधन है। परमात्मा के सत्यस्वरूप का दर्शन प्रेममार्ग से भी होता है। प्राणियों के प्रति प्रेमभाव होना भगवान् की भक्ति का एक रूप है। प्राणियों में भगवान् का दर्शन करते हुए उनकी स्वार्थरहित अथवा निष्काम भाव से सेवा करना भगवद्-भक्ति का एक रूप है। निश्चय ही जिसके मन में प्राणियों के प्रति करुणा एवं प्रेम नहीं होता, जिसमें दूसरों के प्रति संवेदनशीलता नहीं होती तथा जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूसरों की पीड़ा के निवारण में प्रयत्नशील नहीं होता, वह भगवत्कृपा का पात्र नहीं होता। यदि हम किसी कारण से किसी व्यक्ति के कष्टहरण में सक्रिय होकर सहायता न कर सकें तो हम सहानुभूतिपूर्वक परमेश्वर से उसके लिए प्रार्थना तथा सद्भावना तो अवश्य कर ही सकते हैं।[2]

पात्रता होने पर परमात्मा स्वयं को प्रकट कर देता है अर्थात् अपने भीतर

---

१. **स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते** (बृह० उप० १.४.८)—आत्मारूप प्रिय की उपासना करें।
प्रियमित्येनदुपासीत (बृह० उप० ४.१.३)—इसे प्रिय मानकर उपासना करनी चाहिए।
यहाँ प्रकारान्तर से ब्रह्म को प्रिय कहा गया है।

२. **कलि कर एक पुनीत प्रतापा, मानस पुन्य होहिं नहि पापा**—कलियुग की यह विशेषता है कि मन के पाप पापों में परिगणित नहीं होते, किन्तु मन के पुण्य पुण्य हो जाते हैं।

ही परमात्मा की आनन्दमयी दिव्यानुभूति हो जाती है।[१] मन की पवित्रता और चेतना का उन्नयन पात्रता के लक्षण हैं। प्रार्थना मन को पवित्र कर देती है तथा अहंकार की निवृत्ति कर देती है।

पूषा अर्थात् सूर्य विश्वपोषक परमेश्वर का ही प्रतीक है। सत्य का साधक भक्तिभाव से ओतप्रोत होकर पूषा अर्थात् पोषण करनेवाले परमेश्वर से भावपूर्ण प्रार्थना करता है—"हे परमेश्वर, मैं आपकी कृपा बिना आपको प्राप्त नहीं कर सकता। मैं आपकी कृपा से ही आपके सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन कर सकता हूँ। मेरे अज्ञान को दूर कीजिये। धन-सम्पत्ति और सांसारिक वस्तुओं के प्रति मेरे आकर्षण एवं आसक्ति को दूर कीजिये। मेरे मन में पवित्रता और प्रेम भरकर मुझे अपनी कृपा का सत्पात्र बना दीजिये। मैं आपके साक्षात्कार के लिए उत्सुक और आतुर हूँ।"

प्रार्थना तथा दिव्यामृत-सारांश

यह मंत्र प्रार्थना ही है तथा दिव्यामृत से परिपूर्ण है।

---

१. **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्** (कठोप० १.२.२३)

सोई जानइजेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।

सत्य के उपासक के लिए सत्य साक्षात्कार के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करनेवाले भौतिक सुखभोग के आकर्षण-पाश तुच्छ होते हैं। वह चिरनिद्रा से पूर्व ही लक्ष्य-प्राप्ति के लिए दृढसंकल्प होता है।

The woods are lovely dark and deep
But I have promises to keep
And miles to go before I sleep,
And miles to go before I sleep.

—Robert Frost

मन्त्र १६

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः
सोऽहमस्मि॥ १६॥

शब्दार्थ : पूषन्=हे पूषा सूर्य, हे पोषण करनेवाले (परमेश्वर), हे सत्यस्वरूप परमात्मन्; एकर्षे=हे एकमात्र द्रष्टा और सर्वज्ञ, अन्तर्यामी; यम=हे सर्वनियन्ता, सर्वनियामक; सूर्य=हे परम प्रकाशक, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, प्रेरणा देनेवाले परमेश्वर; प्राजापत्य=प्रजापति के पुत्र सूर्य, प्रजापति के भाव से युक्त परमेश्वर, पालनकर्ता, परमेश्वर; रश्मीन् व्यूह=किरणों को एकत्रित कर ले, दूर कर दे; तेजः समूह=तेज को समेट ले, शान्त कर दे; (जिससे कि) यत्=जो; ते=तेरा; कल्याणतमं रूपम्=कल्याणकारी दिव्य स्वरूप (है) ; तत् ते (रूपम्)=उस तेरे रूप को; (अब मैं) पश्यामि=देख रहा हूँ; यो असौ असौ पुरुषः=जो यह (आदित्यमण्डल में स्थित यह पुरुष है) वह परम पुरुष है, परात्पर परमेश्वर है; सो अहं अस्मि=वह मैं हूँ।

वचनामृत : हे पोषण करनेवाले (परमेश्वर), हे एकमात्र सर्वद्रष्टा, हे सर्वनियामक, हे परम प्रकाशक, हे प्राजापत्य, अपनी रश्मियों को एकत्रित कर ले, अपने तेज को समेट ले; जो तेरा कल्याणकारी स्वरूप है, उस तेरे रूप को अब मैं देख रहा हूँ। अरे, जो यह (आदित्यमण्डल में स्थित) पुरुष है, वह पुरुष, मैं वही तो हूँ।

सन्दर्भ : सोलहवाँ मंत्र पद्रहवें मंत्र का ही विस्तार है। ये दोनों मंत्र ईशावास्य उपनिषद् के शीर्षस्थ मंत्र हैं तथा परस्पर जुड़े हुए हैं। सोलहवें मंत्र का पूर्वार्ध प्रार्थना-मंत्र है तथा इसका उत्तरार्ध अद्वैतपरक अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। यह मंत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है तथा इसके अनेक अर्थ किये गये हैं।

दिव्यामृत : सत्य को धर्म माननेवाला साधक सत्य के संदर्शन एवं साक्षात्कार के लिए साधनारत है। परब्रह्म परमात्मा परम सत्य है। वह ध्येय एवं साध्य है। परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दिव्य है। वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह उनसे परे है। निश्चय ही मन के शुद्ध एवं पवित्र तथा प्रेमपूर्ण होने पर, अर्थात् सुपात्र हो जाने पर, साधक को अपने भीतर ही उसके दिव्य स्वरूप की आनन्दानुभूति हो जाती है। जिस प्रकार काष्ठ प्रज्वलित अग्नि में प्रक्षिप्त होने पर अग्नि ही हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मानुभूति का साधक ब्रह्मानुभूति की अवस्था में ब्रह्म ही हो जाता है। सत्य का साक्षात्कार होने पर साधक का क्षुद्र 'अहम्' आत्मा का दिव्य 'अहम्' हो जाता है। उसे अनुभूति हो जाती है, 'सोऽहम्' अर्थात् वह परब्रह्म तो मैं ही हूँ। यह ब्रह्मात्मैक्य (ब्रह्म और आत्मा की तात्त्विक एकता) है। यही अद्वैत (दो नहीं, एक) अथवा अभेद (ब्रह्म और आत्मा में भेद नहीं है) की संसिद्धि है, जो एक अत्यन्त दुर्लभ उपलब्धि है। सत्य के साधक के लिए सत्यसन्दर्शन ही उसकी अन्तर्यात्रा का लक्ष्य है। सत्यसन्दर्शन होने पर सारी सृष्टि सुन्दर और ब्रह्ममय अथवा पूर्ण दीखने लगती है। वह कृतकृत्य एवं सुधन्य हो जाता है।

ईशावास्य उपनिषद् के आलोक में जीवन की डगर पर सावधानता-पूर्वक चलते हुए साधक ने सर्वप्रथम सीख लिया कि यह सम्पूर्ण विश्व एक चैतन्यसत्ता से व्याप्त है तथा उसका आवास्य है। वह समस्त सक्रियता का स्रोत एवं आधार है। धन-सम्पत्ति तुच्छ है तथा दूर तक साथ नहीं देती। जगत् असत् है, सत् चैतन्यतत्त्व है। त्यागपूर्वक सुखभोग करना विवेकसम्मत है। परधन से प्रलुब्ध होने पर मनुष्य भटक जाता है। धन भला किसका है? धन जीवन का साध्य नहीं हो सकता।

मनुष्य को अनासक्त होकर कर्मरत होना चाहिए तथा अपने कर्तव्यों और दायित्वों से पलायन नहीं करना चाहिए। अनासक्त भाव से कर्म करने

के अतिरिक्त अन्य उपाय कुछ नहीं है। दीर्घ आयु तक उत्तम कर्म करते हुए जीवित रहने की इच्छा करना सर्वथा उचित है।

जो लोग सांसारिक सुखभोगों को साध्य मान लेते हैं, वे मानो आत्मघाती होते हैं। वे भटके हुए होते हैं तथा सच्चे सुख, शान्ति और सुयश से वंचित रह जाते हैं।

परम ब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण दूर भी है और समीप भी है। वह सबके भीतर भी है और बाहर भी। वह सर्वत्र विद्यमान है।

वह मनुष्य, जो सब प्राणियों को अपना आत्मा ही समझ लेता है तथा अपने को सब प्राणियों में देखता है, किसीसे घृणा नहीं करता। वह मनुष्य, जो सब प्राणिबों में एकत्व अर्थात् एकमात्र परमात्मा को ही देखता है, उसके लिए कैसा मोह और कैसा शोक?

परमात्मा शुभ्र, अशरीर और पूर्ण है। वह क्रान्तदर्शी, सर्वत्र व्याप्त और स्वयंभू है तथा उसने सृष्टि की रचना के साथ ही व्यवस्था भी कर दी। यह परमात्मा की विचित्रता है।

जो चेतना-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान का तथा समष्टि और व्यष्टि का सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं, वे जीवन में सफल हो जाते हैं। चेतना के रहस्य को जान लेने पर पदार्थ का रहस्य भी ज्ञात हो जाता है। अध्यात्म-ज्ञान मनुष्य के लिए आनन्दानुभूति का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

प्रचुर अध्यात्म-ज्ञान होने पर भी दिव्यानुभूति का आनन्द उपलब्ध न होने पर साधक अन्त में प्रार्थना का सहारा लेता है। वह परमात्म-दर्शन के लिए लालायित है तथा अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। आत्मानन्द का दिव्यामृत मानो कलश में रखा है तथा उसके ऊपर सुवर्ण का आवरण साधक के नेत्रों को चुँधिया देता है। वह आवरण को हटाने में असमर्थ है। अतः सत्य का साधक परमेश्वर से ही प्रार्थना करता है कि परमेश्वर स्वयं ही प्रलुब्धकारी सुवर्ण-आवरण को भी दूर हटा दे, जिससे वह परमात्मा के सत्यस्वरूप का साक्षात्कार कर ले। सांसारिक भोगों का

आकर्षण और उनकी आसक्ति सुवर्णमय आवरण है, जो चित्त को स्थिर नहीं होने देता। जब तक मन में सुखभोग की कामनाएँ हैं तब तक मनुष्य नित्य, एकरस, आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

भुवनभास्कर सूर्य न केवल एक प्रत्यक्ष देवता है, बल्कि तेजोमय, प्रकाशदाता, जीवनदाता और पोषक होने के कारण परमेश्वर का प्रतीक भी है। सूर्य के माध्यम से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है। अदित्यमण्डल के मध्य में सूर्यदेवरूप पुरुष है, जिसकी उपासना का विधान है। तेजोमय परम पुरुष परमेश्वर भी मानो ज्ञानरश्मियों की आभा से आवृत है।

सूर्योपासना प्रतीकात्मक रूप से परमेश्वर की प्रार्थना है।

सूर्य जीवधारियों का पोषण करता है, आकाश में अकेला ही चलता है।[1] वह नियमन और प्रवर्तन करता है। परमेश्वर विश्व का परम पोषक है। वह सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र स्वामी है। वह विश्व का नियमन करता है तथा पालन करता है। सत्य का साधक सूर्य का ध्यान एवं चिन्तन करके वास्तव में परमात्मा का ही ध्यान और चिन्तन करता है। वह सूर्य के ध्यान द्वारा अपने भीतर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।[2] सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष मानो स्वयं विश्व का परम पुरुष है।[3] यही परम पुरुष हृदयपुर

---

१. **सूर्य एकाकी चरति**—सूर्य अकेला ही चलता है।

२. **अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्** (ब्रह्मसूत्र ३.२.२४)
—श्रुतियों और स्मृतियों का निर्णय है कि ध्यानावस्था में अव्यक्त ईश्वर का दर्शन हो सकता है। ध्यान की विधि श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय दो में दी गयी है। भगवद्गीता के छठे अध्याय में भी ध्यानयोग का वर्णन है।
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
(श्वेत० उप० १.३)
—ऋषियों ने ध्यानयोग से देवात्मशक्ति को देखा।

३. **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।** (श्वेत० उप० ३.१४)
—वह परम पुरुष हजारों आँखों और पैरवाला है।
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। (श्वेत० उप० ३.१५)
—जो हो चुका, जो होगा, वह परम पुरुष ही है। ये दोनों मंत्र यजुर्वेद (३१.१,२),

में भी निवास करता है तथा हृदयपुर में शयन करने के कारण पुरुष कहलाता है।

साधक की प्रार्थना के फलस्वरूप अमृतकलश का हिरण्मय पात्र हट जाता है।

वह अब आदित्यमण्डल के पुरुष के दर्शन के माध्यम से मानो परम पुरुष का कल्याणकारी संदर्शन कर लेता है। वह यह अनुभव करके अत्यन्त भावविभोर एवं आह्लादित हो जाता है कि साक्षात्कृत परम ज्योति तो वही है, जो उसकी आत्मज्योति है, विश्वचैतन्य और आत्मचैतन्य तो एक ही हैं। अरे, वह तथा मैं एक ही हैं। वह मेरा ही अपना स्वरूप है। उसमें और मुझमें अभेद है। जो द्वैत दीख रहा था, वह मिट गया। परम तत्त्व सर्वत्र एक ही है। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है। वह तो स्वयं मैं हूँ।[1] जो अब तक सुना और समझा था, उसका अब ध्यानदृष्टि से अनुभव हो गया। जो सूर्य और सम्पूर्ण विश्व का आत्मा है, वही मेरा भी आत्मा है। मैं उससे अभिन्न हूँ; दोनों नितान्त एक हैं।

परमात्मा ज्योतियों में सर्वोपरि ज्योति है।[2] वह परम ज्योति ध्यानध्येय

ऋग्वेद (१०.९०.१,२), अथर्ववेद (१९. ६.१,४) में भी हैं। पुरुषपरक अनेक मंत्र श्वेत० उप० इत्यादि में हैं।

पुरीतति शेते (बृह० उप० २.१.१९), पुरि शयः (बृह० उप० २.५.१८) हृदय गुहा में रहता है। पुरः आविशत् (बृह० उप० २.५.१८)

१. **सोऽहमस्मि**—वह मैं हूँ। यह '**अहं ब्रह्मास्मि**' (बृह० उप० १.४.१०) का रूपान्तर है। 'सोऽहम्' का प्राणायाम के समय जप किया जाता है। भक्त 'दासोऽहम्' कहता है तथा वह ज्ञानी के रूप में 'सोऽहम्' कहता है।
पंचदशी के महावाक्य प्रकरण में चार महावाक्यों का उल्लेख है—
प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद - ऐतरेय उप० ३.१.३
अहं ब्रह्मास्मि—यजुर्वेद—बृह० उप० १.४.१०
तत् त्वं असि—सामवेद—छान्दोग्य उप० ६.१५
अयं आत्मा ब्रह्म—अथर्ववेद—माण्डूक्य उप० मंत्र २

२. **ज्योतिषां ज्योतिरेकम्** (यजुर्वेद ३४.१)—ज्योतियों की भी ज्योति, परम ज्योति परमात्मा है।

है। परमात्मा ज्योतिस्वरूप एवं प्रकाशस्वरूप है। वह दिव्य है, जिसे चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता तथा वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता।[१] ध्यानावस्था में जब मन मात्र तटस्थ साक्षी होकर मन के प्रवाह को दूर से देखता है, तब मन का प्रवाह धीरे-धीरे विलुप्त हो जाता है तथा आत्मज्योति का दिव्य दर्शन संभव हो जाता है। उसकी आनन्दानुभूति शब्दातीत एवं वर्णनातीत होती है। ध्यानयोगी उसका दर्शन करके कृतार्थ हो जाते हैं।[२] विशुद्ध चेतना दिव्य प्रकाश है तथा आनन्द का स्रोत है। चेतना के सूक्ष्म स्तरों तक पहुँचने के लिए मौन तथा ध्यान की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। चेतना से ही प्राणसंचार एवं शक्तिसंचार होता है। चेतना में ऊर्जा अन्तर्निहित होती है। मनुष्य अन्तर्मुखी होकर परम चैतन्यसत्ता का दर्शन (अनुभव) करके, स्थूल से सूक्ष्म तक अन्तर्यात्रा करता है। यह सम्पूर्ण जगत् चिद्विलास एवं भगवान् का दिव्य स्फुरण है। अन्तःपूर्ण और बहिःपूर्ण का अनुभव होने पर सर्वत्र पूर्णता एवं सौन्दर्य का संदर्शन होना जीवन की परमोच्च उपलब्धि है।

प्रार्थना तथा दिव्यामृत-सारांश

मंत्र १५ तथा १६ प्रार्थना-मंत्र हैं तथा दिव्यामृत से परिपूर्ण हैं। इन्हें कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। ●

---

१. **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा** (मुण्डक उप० ३.१.८)
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ (गीता ११.८)—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरे योग को देख सकेगा।

२. **ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।**—ध्यानावस्था में योगी उसका दिव्यदर्शन करते हैं।

मन्त्र १७

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ १७॥

शब्दार्थ : अथ=अब; वायुः=प्राणवायु, प्राण, सूक्ष्म शरीर; अमृतं अनिलम्=अविनाशी अनिल (में प्रविष्ट हो जाय), समष्टि वायु अथवा सूत्रात्मा के साथ एकीभूत हो जाय; इदं शरीरम्=यह स्थूल देह; भस्मान्तम्=भस्मरूप (हो जाय); ॐ=परमात्मा का वाचक शब्द; क्रतो=हे जीवात्मा, हे यज्ञरूप विष्णो, हे मन, हे संकल्पप्रधान पुरुष; स्मर=स्मरण कर; कृतं स्मर=किये हुए कर्मों (पुण्यों) का स्मरण कर, भगवान् के किये हुए उपकारों का स्मरण कर।

वचनामृत : अब मेरा प्राणवायु अविनाशी अनिल (वायु) में (मेरा सूक्ष्मदेह सूत्रात्मा में) प्रविष्ट हो जाय, यह स्थूल शरीर भस्मरूप हो जाय। हे क्रतु[१], हे मेरे जीवात्मा, तू स्मरण कर, अपने किये हुए शुभ कर्मों (अपनी आध्यात्मिक साधना) का स्मरण कर, भगवान् के किये हुए उपकारों का स्मरण कर।

सन्दर्भ : इस मंत्र में उत्तरार्ध के अनेक अर्थ किये गये हैं। वास्तव में यह मंत्र भी प्रार्थना-मंत्र है।

दिव्यामृत : संसार के सभी देशों में कवियों, चिन्तकों और सन्तों ने मृत्यु के संबंध में अनेक धारणाएँ प्रस्तुत कीं तथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए अनेक उपाय सुझाये। मृत्यु एक अनिवार्य नियति है, जिसका अतिक्रमण होना संभव नहीं है। मृत्यु का भय समस्त भयों में अग्रणी है। मृत्यु का अर्थ जीवनलीला का अन्त और अस्तित्व का मिट जाना है। मृत्यु राजा और रंक, धनपति और निर्धन, सन्त और खल, विद्वान् और मूर्ख,

---

१. **क्रतुमयः पुरुष** (छान्दोग्य उप० ३.१४.१) मनुष्य जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही वह मृत्यु के बाद होता है। गीता में भी ऐसा ही कहा गया है।

विख्यात और कुख्यात, अग्रगण्य और नगण्य सबको ही आती है। पृथ्वी पर भी विनाश-चक्र चलता रहता है।[१]

मृत्यु अवश्यंभावी एवं निश्चित होती है, किन्तु यह किसीको ज्ञात नहीं होता कि वह कब, कहाँ और किस रूप में आयेगी। मृत्यु का विचार ही मनुष्य को आतंकित एवं स्तब्ध कर देता है। देह के पिंजरे में बन्द प्राणपखेरू चहकता रहता है, किन्तु वह अकस्मात् उसे छोड़कर कब उड़ जायगा कौन जानता है।[२] मैंने जो धन-सम्पदा एकत्रित की है उसका क्या होगा? मेरे परिवार और परिजन का क्या होगा? मेरी प्रिय वस्तुओं का क्या होगा? मेरी कीर्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा मेरे द्वारा प्राप्त सत्ता और पदों का क्या होगा? इस प्रकार की दुश्चिन्ता मृत्यु के विचार को भयावह बना देती है। वास्तव में प्रिय व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति ममत्व एवं आसक्ति का भाव उनके वियोग को दुस्सह बनाकर मनुष्य को उद्वेलित कर देता है।

सत्य को धर्म माननेवाला तथा सत्य के सन्दर्शन को सर्वोपरि माननेवाला साधक सत्य की आनन्दानुभूति करके मृत्यु के भय को पार कर लेता है तथा नितान्त भयमुक्त होकर कल्पना करता है कि मृत्यु समीप है और मृत्यु का आलिंगन करने के लिए उद्यत होकर पहले कुछ कामना करता है तथा तदुपरान्त परमात्मा से कुछ प्रार्थना करता है। वह जीवन्मुक्त है तथा अब मृत्यु के समय देह के तत्त्वों के विघटन की कल्पना करता है। उसके

---

१. वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी पर जीवन के विनाश का चक्र चलता रहता है। लगभग छह करोड़ चालीस लाख वर्ष पूर्व एक उल्कापात से विशालकाय डायनासोर प्रनष्ट हो गये थे। किन्तु उससे भी लगभग पचीस करोड़ वर्ष पूर्व जीवन प्रनष्ट हुआ था। प्रख्यात भू-वैज्ञानिकों का मत है कि लगभग पचीस करोड़ वर्ष पूर्व साइबेरिया में ज्वालामुखी पर्वतों के विस्फोटों से निकली हुई गैसों ने सूर्य का प्रकाश रोक दिया था और पृथ्वी ठंडी पड़ गयी थी तथा तेजाबी वर्षा हुई, जिसने जीवन को प्रनष्ट किया। वर्तमान युग में कार्बन डी आक्साइड के बढ़ने से समुद्रों का जलस्तर बढ़ने से, खतरा हो रहा है।

२. काया का पंछी डोले रे, एक साँस का पंछी बोले रे।

लिए मृत्यु मोक्ष का महोत्सव है तथा आध्यात्मिक साधकों के लिए एक प्रेरक प्रसंग है। वह परिनिर्वाण है तथा मोह और शोक का अवसर नहीं है। जिस महात्मा को सब कुछ परमात्मा ही दीखता है तथा जो सर्वत्र परमात्मा का एकत्व देखता है, उसके लिए कैसा मोह और कैसा शोक? जिस सत्यधर्मा ने सत्य का हिरण्मय आवरण दूर होने पर परमात्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप को अपना ही स्वरूप समझ लिया और जिसने अद्वैत की अनुभूति का आनन्द प्राप्त कर लिया, उसके लिए मृत्यु महाप्रयाण का दुर्लभ अवसर है।

सत्यधर्मा साधक अपने हृदयाकाश में संस्थित दिव्य ज्योति-पुरुष और आदित्यमण्डल में दृष्ट परम पुरुष के एकत्व से अभिभूत है और वह ब्रह्मानुभूति में निमग्न है। उसके भीतर और बाहर सर्वत्र पूर्णता है। वह सर्वत्र चिन्मात्र का दर्शन कर रहा है। उसके ललाट पर प्रभामण्डल जगमगा रहा है। वह विश्वचैतन्य और आत्मचैतन्य की एकता की आनन्दानुभूति से आत्मतृप्त है।

चेतना के सूक्ष्म स्तर पर अखण्ड आनन्द के सरोवर में अवगाहन करता हुआ सत्यधर्मा स्थूल और सूक्ष्म तथा अनात्म और आत्म अथवा असत् और सत् तथा द्रष्टा और दृश्य के भेद को जान चुका है तथा अब अनन्तचेतना में प्रवेश के समय उसके उद्‌गार प्रकट हो रहे हैं—

अब देहात्मसंघातरूप इस देह से प्राणवायु निकलकर विश्वव्यापी अनिल (समष्टि महावायु) में विलीन हो जाय तथा सूक्ष्म शरीर अपने समष्टिरूप सूत्रात्मा में विलीन हो कर अमृतत्व को प्राप्त कर ले।

यह जीवात्मा परमात्मा का अंश ही है। प्रतिबिम्बरूप में यह अपनी मूलसत्ता की छाया ही है। यह परब्रह्म परमात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करके आनन्दरूप हो जाय।

हे मेरे मन, हे मेरे जीवात्मा, तू अध्यात्मपथ की साधना का स्मरण कर

तथा परमात्मा की कृपा का स्मरण कर।[१] मैं परमात्मा का स्मरण करते हुए परमात्मा की चैतन्यसत्ता में विलीन हो जाऊँ। सोऽहम्। ॐ तत् सत्।

(प्रार्थना ही दिव्यामृत सारांश है)

●

---

१. परमात्मा का स्मरण करते हुए देह-त्याग करने का निर्देश अनेक ग्रन्थों में है। गीता के अध्याय ८ के श्लोक ५,६,१०,१३ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता ८.१३)

—ॐ का उच्चारण करते हुए देह-त्याग करनेवाला परम गति को प्राप्त होता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (गीता ८.५)

—अन्तकाल में भगवान् का स्मरण करनेवाला भगवान् को ही प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा है—**अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्।** —मैं भी अपने भक्त का स्मरण करता हूँ और उसे परम गति में पहुँचा देता हूँ।

मन्त्र १८

अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव! वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

शब्दार्थ : अग्ने=हे अग्निदेव, हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्; अस्मान्=हमें; राये=समृद्धि (आध्यात्मिक विकास, आनन्दघन की प्राप्ति) के लिए; सुपथानय=सरल मार्ग से ले चल; देव=हे प्रकाशस्वरूप देव; विश्वानि=सब; वयुनानि=कर्मों को, उपायों को; विद्वान्=(आप) जानते हैं; अस्मत्=हमसे, हमारे; जुहुराणम्=टेढ़े, कुटिलतायुक्त; एनं=पापकर्म को, असत्य को; युयोधि=मारभगा दीजिये, नष्ट कर दीजिये; ते=आपको, तुझे; भूयिष्ठां=वारम्वार; नम उक्तिं=नमस्कार के वचन; विधेम=कहते हैं।

वचनामृत : हे अग्निदेव, हमें अमृतपदरूप समृद्धि की प्राप्ति के लिए, सरल मार्ग से ले चल। हे देव, (तू हमारे) समस्त कर्मों को जानता है, हमारे कुटिल पापों को नष्ट कर दे। हम तेरे लिए वारम्वार नमस्कार के वचन कहते हैं।[१]

सन्दर्भ : यह प्रार्थना मंत्र है।

दिव्यामृत : विश्व की परम चैतन्यसत्ता तो एक ही है, किन्तु सगुण ब्रह्म के रूप में उसके विभिन्न गुणों के परिप्रेक्ष्य में उसके अनेक प्रतीकात्मक नाम हैं[२] तथा अनेक वर्णन किये गये हैं। ऐश्वर्यसम्पन्न होने से उसे इन्द्र, सहायक होने से मित्र, वरणीय होने से वरुण, नियामक होने से यम, अन्तर्यामी होने से मातरिश्वा तथा ज्ञानस्वरूप एवं प्रकाशस्वरूप होने से तथा अग्रणी होने से उसे अग्नि कहा जाता है।

---

१. **मंत्र १८** ऐतरेय ब्राह्मण २.३०.६, ऋग्वेद १.१८९.२, शुक्लयजुर्वेद ५.३६, कृष्ण-यजुर्वेद १.१.१४-३, बृहदारण्यक उप० ५.१५.१ में भी है।

२. **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्वेद १.१६४.४६)
—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, सुपर्ण आदि उसी एक के नाम हैं।

परमात्मा की चैतन्यसत्ता के मात्र सान्निध्य से जड प्रकृति गतिमय हो जाती है, जैसे चुम्बक पत्थर की सत्ता के मात्र सान्निध्य से लौहखण्ड सक्रिय हो जाता है। देह में भी चिदंश आत्मा के मात्र सान्निध्य से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं।

देव परमात्मा की सत्ता के प्रतीक होते हैं। अग्निदेव प्रकाशस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप परमात्मा का प्रतीक है। अग्नि पवित्र करनेवाला (पावक) तत्त्व है। अग्नि शोधक है। अग्नि को साक्षी मानकर सत्य आचरण की प्रतिज्ञा की जाती है।[१] परमात्मा की सत्ता से ही अग्नि में दाहकत्व और प्रकाशकत्व है। वह परमात्मा ही तो अग्नि में प्रविष्ट हुआ।[२] परमात्मा अग्निसंज्ञक है। अग्नि परमात्मा का ही एक नाम है। अग्नि विराट् पुरुष का मुख है। हविष्यान्न से देवों की तृप्ति के माध्यम से परमात्मा की ही पूजा की जाती है। हृदय-क्षेत्र (दहर) में संस्थित परमात्मा-ज्योति की भाँति अर्चिशिखा (अग्नि-शिखा) भी ऊर्ध्वगामी होती है तथा वह अन्तर्ज्योति का प्रतीक होने के कारण ध्यानध्येय होती है।

सत्यधर्मा साधक सत्यस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार से सुधन्य हो चुका है तथा वह जीवन्मुक्त है। वह त्याग-भोग, विद्या-अविद्या, संभूति-

---

विद्वान् उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। (सगुण ब्रह्म—Brahman in its qualified aspect)

१. **साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** (श्वेत० उप० ६.११)—परमात्मा साक्षी, चेता, केवल, निर्गुण है।

२. **यो देवोऽग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।** (श्वेत० उप० २.१७)—परमात्मा ही अग्नि, जल और समस्त भुवन में प्रविष्ट हो रहा है।
तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः॥
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापः तत् प्रजापतिः॥ (श्वेत० उप० ४.२, यजुर्वेद ३२.१)
—वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, जल, प्रजापति ब्रह्म ही है। केनोपनिषद् में इसकी विशद चर्चा है कि परमात्मा की सत्ता से ही अग्नि आदि सक्रिय होते हैं।

असंभूति, समष्टि-व्यष्टि इत्यादि द्वन्द्वों को पार कर चुका है तथा वह सर्वत्र परमात्मा का दर्शन कर रहा है। वह मृत्यु के भय को भी पार कर चुका है। वह अमृतत्व का आस्वादन करके सुतृप्त है। वह शेष जीवन को भी ब्रह्मात्मभाव में व्यतीत करने के प्रति आश्वस्त है। अब वह लोक-कल्याण के लिए सामूहिक रूप से परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है—

हे ज्ञानस्वरूप एवं प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, तू सच्चा पथप्रदर्शक है। हमें अमृतपद की प्राप्ति के लिए सरल मार्ग से ले चल।[१]

हे परमज्योतिस्वरूप परमात्मन्, तू सर्वज्ञ है और हमारे सब कर्मों का साक्षी है। अमृतपद-प्राप्ति के प्रतिबन्धक हमारे कुटिल पापों को नष्ट कर दे तथा हमें कुटिल कर्मों से बचा।

हे प्रभो, हम तेरे प्रति वारम्वार नमस्कार के वचन कह रहे हैं, वारम्वार प्रणाम कर रहे हैं। हे प्रभो, हम सबको सद्बुद्धि दे।

ॐ असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय॥
हे प्रभो, ले चल मुझे,
असत्य से सत्य की ओर,
अन्धकार से प्रकाश की ओर,
मृत्यु से अमृतत्व की ओर।

●

१. Lead, Thou kindly Light. Abide with me; Lord, with me abide.
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ (गीता ८.२४)
—मृत्यु होने पर ब्रह्मविद् देवयान-मार्ग से जाते हैं।

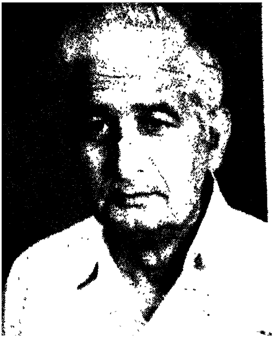

श्री शिवानन्द

(जन्म १८ जुलाई १९२६, मेरठ)

पूर्व प्रधानाचार्य, गली गीतारसामृत, विजय नगर, मेरठ-१

गीता मर्मज्ञ उपाधि से अलंकृत,

राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित,

अमेरिका आदि में भी गीता प्रवचन किये हैं, कृतियों का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास में हुआ है, तथा उन पर शोधकार्य भी हुआ है। सम्प्रति उपनिषद् दिव्यामृत तथा दुर्गासप्तशती रसामृत का प्रणयन हो रहा है।

लेखक की अन्य रचनाएँ

गीता-रसामृत	उमंगभरा जीवन
जीवन और सुख	आनन्द की ओर
जीवन और अभय	प्रेरणात्मक विचार
तनाव से मुक्ति और ध्यानदीप	Inspirational thoughts